अछूतों का फुटबॉल
पण्डित जी अछूतों के बहिष्कार का फ़तवा देकर उसे ठुकरा रहे हैं और मौलवी तथा पादरी साहब अछूत-रूपी गेंद को लोक रहे हैं !!

स्रोत : *चाँद* (जनवरी, 1929): 446.

रूप और अरूप, सीमा और असीम

औपनिवेशिक उत्तर भारत में दलित-पौरुष

चारु गुप्ता

पिछले दशक में पौरुष पर हमारे देश में कई अच्छे अध्ययन हुए हैं।[1] जिस तरह वर्ग-विश्लेषण के लिए शासक वर्ग का अध्ययन ज़रूरी है, उसी तरह लैंगिक विश्लेषण के लिए पुरुष का अध्ययन आवश्यक है।[2] पितृसत्तात्मक निर्मिति के केंद्र में रहने के कारण आम-तौर पर पुरुष की पहचान ख़ासी धुँधली रहती है। सम्पत्तिशाली, उच्चवर्णी, विषमलिंगी हिंदू पुरुष धार्मिक और जातिगत पदानुक्रम के शीर्ष पर विराजमान है। दूसरी तरफ़, कई महत्त्वपूर्ण

---

[1] राधिका चोपड़ा, कैरोलीन ओसेला और फ़िलिपो ओसेला (सम्पा.) (2004), *साउथ एशियन मैसकुलिनिटीज़ : कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ चेंज साइट्स ऑफ़ कांटिन्युटी, वुमॅन अनलिमिटेड,* नयी दिल्ली; एस. डर्ने (2000), *मूवीज़, मैसकुलिनिटी ऐंड मॉडर्निटी : ऐन एथ्नॉग्राफी ऑफ़ मेन्स फ़िल्म गोइंग इन इंडिया,* ग्रीनवुड प्रेस, वेस्टपोर्ट.

[2] आर.डब्ल्यू. कॉनेल (1995), *मैसकुलिनिटीज़,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

अध्ययनों ने बताया है कि किस प्रकार औपनिवेशिक विमर्श में पौरुषपूर्ण ब्रिटिश पुरुष को स्त्रैण भारतीय पुरुष के बरक्स देखा-दिखलाया गया है।[3] ये अध्ययन आज के भारत में हिंदू संकीर्णता, दक्षिणपंथ, हिंसा और पौरुष के उभार के बीच के संबंधों की विवेचना करते हैं।[4]

बहरहाल, ज़्यादातर ऐतिहासिक अध्ययनों में औपनिवेशिक या उच्चवर्णी हिंदू पौरुष पर ही मुख्य तौर पर ध्यान दिया गया है। दलित-पहचान में पौरुष की भूमिका पर कोई विशेष चिंतन नहीं मिलता। पौरुष के अध्ययन में धार्मिक पहचान के पहलू पर तो ध्यान दिया गया है, पर जाति की भूमिका के बारे में हम उतने सचेत नहीं हैं। दरअसल, औपनिवेशिक भारत के ख़ास संदर्भ में जाति, दलित-पहचान, लैंगिक विचारधारा और पौरुष के आपसी अंत:संबंधों की आम विवेचना नहीं हुई है। दलित-पौरुष की समीक्षा से पौरुष, आधिपत्य और सत्ता के आपसी संबंध डगमगा जाते हैं। औपनिवेशिक भारत में दलित-पौरुष का चित्रण हिंदू उच्चवर्णी पराक्रमी पौरुष की तुलना में असमंजस भरा और अस्थिर नज़र आता है। मसलन, पौरुष का दावा कई बार दलित के सम्मान, सामाजिक औक़ात और अधिकार से जुड़ जाता था। ऐसे दावे पौरुष की एक अलग पहचान बना या बिगाड़ रहे थे। दलित मर्दों ने पौरुष के प्रभुत्वशाली विचारों और सामाजिक व्यवहारों को स्वीकारा, नकारा और विरोधाभासी रूपों में परिभाषित किया। इस लेख में दलित-पौरुष को हाशिये की बजाय केंद्र में रखा गया है, जिससे हमारे पौरुष-अध्ययन की वर्तमान सीमाओं को चुनौती मिलती है। लेख में यह खोजने की कोशिश है कि किस प्रकार औपनिवेशिक संयुक्त प्रांत (आज का उत्तर प्रदेश) में औपनिवेशिक सत्ता, उच्च जाति और ख़ुद दलितों ने सामाजिक नियंत्रण और पहचान के लिए दलित पुरुष की देह को नयी तरह से पढ़ा, तोड़ा, बनाया और बिगाड़ा।

औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में 'अछूत'

कई अध्ययन औपनिवेशिक दौर में दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। एक ओर जाति का नकार हुआ तो दूसरी ओर शहरीकरण, नगर-क़ानून, कोर्ट, मिशनरी गतिविधियों और जनगणना प्रक्रियाओं के ज़रिये जाति हिंदू धर्म के साथ जुड़कर, और मज़बूत हुई।[5] औपनिवेशिक अर्थतंत्र में दलितों को कुछ हद तक रोज़गार तो मिला, पर साथ ही छुआछूत की दीवार भी मज़बूत हुई। इसके कारण शुद्ध और अशुद्ध जातियों के बीच का विभाजन नये सिरे से रचा गया। उत्तर प्रदेश के दलितों के लिए औपनिवेशिक शासन एक मिला-जुला तजुर्बा था, जिसमें उन्हें तरह-तरह के जटिल तरीक़ों से फ़ायदा-नुक़सान हो रहा था।[6]

---

[3] आशिस नंदी (1983), *द इंटिमेट ऐनेमी : लॉस ऐंड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अंडर कोलोनियलिज़म*,, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; मृणालिनी सिन्हा, *कोलोनियल मैसकुलिनिटी : द 'मैनली' इंग्लिशमैन ऐंड दि 'एफ़िमिनेट' बंगाली इन द लेट नाइनटींथ सेंचुरी*, मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर, 1995.

[4] थॉमस ब्लूम हैनसेन (2006), 'रिकुयरेटिंग मैसकुलिनिटी, हिंदू नेशनलिज़म, वायलेंस ऐंड द एक़्सोरिज़म ऑफ़ द मुस्लिम "अदर"', *क्रीटीक ऑफ़ एंथ्रोपॉलिजी*, खण्ड 16, अंक 2: 137-72; ज्ञानेंद्र पांडेय (2006), *रुटीन वायलेंस*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

[5] निकोलस बी. डर्क्स (1987), *द हॉलो क्राउन : एथ्नोहिस्ट्री ऑफ़ दि इंडियन किंगडम*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज; इशिता-बनर्जी दुबे (सम्पा.)(2008), *कास्ट इन हिस्ट्री*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; सूज़न बेली (1999), *कास्ट, सोसायटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया फ्रॉम एटींथ सेंचुरी टू द मॉडर्न ऐज़*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्बिज : 25-96, 144-86.

[6] ओवेन एम. लिंच (1969), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी : सोशल मोबिलिटी ऐंड सोशल चेंज इन अ सिटी ऑफ़ इंडिया*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क; नंदिनी गुप्तू (2001), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ दि अरबन पुअर इन अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंडिया*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज : 27-65; रामनारायण एस. रावत (2012), *रिकंसीडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

ईसाई मिशनरियों की धार्मिक गतिविधियों के कारण उत्तर प्रदेश में धर्मांतरण को लेकर व्यापक पैमाने पर भाषायी प्रकाशनों का वितरण हुआ। नॉर्थ इंडियन क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसाइटी ने, जिसका मुख्यालय इलाहाबाद में था, शोषित अवर्णों के लिए कई किताबें, पर्चे और पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं।[7] बदायूँ, मथुरा, मेरठ, रुड़की, कानपुर, मुरादाबाद, पीलीभीत, बिजनौर और बरेली में कई चमार और भंगी ईसाई बन गये।[8] साथ-ही-साथ, ग्रामीण पूर्वी उत्तर प्रदेश में उन्नीसवीं सदी में भूस्वामियों के एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसका हित कई प्रकार की विषमताओं को बरक़रार रखने और मज़बूत करने में था। जजमानी और बेगार प्रथा को एक नया जीवन मिला।[9] कई क्षेत्रों में गन्ने की खेती में वृद्धि हुई जिससे ज़मींदारों को ख़ासा फ़ायदा हुआ, पर दलितों की बहबूदी नहीं हुई।[10] अस्सी प्रतिशत खेत मज़दूर और खेती-किसानी करने वाले दलित थे। कई दलित पुश्तों से बँधुआ थे। हलवाहे के रूप में उनकी मज़दूरी बेहद कम थी। ज़मीन पर बढ़ते दबाव, कृषि-मंदी, प्राकृतिक विपदा, जोत के बँटवारे और घरेलू उद्योगों में ह्रास के कारण आर्थिक जीवन में उतार-चढ़ाव हुआ। दलितों के रोज़गार के साधन संकट के घेरे में आ गये।[11]

ऐसे कई मिले-जुले कारणों से दलितों का शहर की तरफ़ पलायन शुरू हुआ जहाँ उन्हें रोज़गार के बेहतर अवसर दिखे। 1857 के बाद उत्तर प्रदेश के शहरों में संचार-साधनों, बाज़ार, कचहरी, शिक्षा संस्थानों, पुस्तकालयों और प्रेस का तेज़ी से प्रचार-प्रसार हुआ।[12] 1922 और 1927 के बीच उत्तर प्रदेश में पंजीकृत कारख़ानों और कारख़ानों के मज़दूरों की संख्या में क्रमश: 40 और

आदि धर्म आंदोलन के संस्थापक स्वामी अछूतानंद

अछूतानन्द जैसे दलित नेताओं ने आदि हिंदू आंदोलन-जैसी उल्लेखनीय मुहिम छेड़ी, जिसने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के अलावा दलितों को भारत का मूल निवासी बताने का अभियान चलाया। उन्होंने सरकार को कई माँग-पत्र दिये जिनमें दलितों के लिए सार्वजनिक बहालियों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में विशेष प्रावधान की बात की गयी।

---

[7] ए.सी. क्लेटॅन (1911), *प्रीचर्स इन प्रिंट : ऐन आउटलाइन ऑफ़ द वर्क ऑफ़ द क्रिश्चियन लिटररी सोसायटी फ़ॉर इंडिया*, लंदन; जे. जे. लुकास, *हिस्ट्री ऑफ़ द नार्थ इंडियन क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी (1848-1934)*, मिशन प्रेस, इलाहाबाद, ऐन. डी. (प्रकाशन वर्ष उपलब्ध नहीं है).

[8] जॉन सी. बी. वेबस्टर (1994), *द दलित क्रिश्चियंस : अ हिस्ट्री*, आईएसपीसीके, दिल्ली.

[9] वॉल्टर निएल (1962), *इकनॉमिक चेंज इन रूरल इंडिया लैंड टेन्योर ऐंड रिफ़ॉर्म इन यूपी 1800-1955*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन.

[10] शाहिद अमीन (1984), *शुगरकेन ऐंड शुगर इन गोरखपुर : ऐन इंक्वायरी इनटू पेज़ैन्ट प्रोडक्शन फ़ॉर कैपिटलिस्ट इंटरप्राइज़ इन कोलोनियल इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

[11] ई. व्हाइटकॉम्ब (1972), *एग्रेरियन कंडीशन इन नार्दर्न इंडिया, खण्ड I : यूपी अंडर ब्रिटिश रूल, 1860-1900*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.

[12] सी.ए. बेली (1983), *रूलर्स, टाउंसमेन ऐंड बाज़ार्स : नार्थ इंडियन सोसायटी इन दि एज ऑफ़ ब्रिटिश एक्सपेंशन, 1770-1870*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज : 427-30.

25 प्रतिशत का इज़ाफ़ा हुआ।[13] पर शहर भी जाति के आधार पर विभाजित थे। दलित पुरुषों को सबसे गंदे काम करने को दिये गये। उन्हें सबसे गंदे इलाक़ों में रिहाइश मिली। शहरों में प्राय: जातिगत हिंदू समाज और ब्राह्मणवादी तौर तरीक़ों की पुनर्स्थापना हुई जिसके तहत दलितों को सवर्ण हिंदुओं के लिए प्रदूषित माने जाने वाले रोज़गारों में ही जगह मिली। लेकिन इसके साथ ही, शहरीकरण और सीमित पूँजीवादी विकास से दलितों को कुछ लाभ भी हुआ। उन्हें एक गुमनामी मिली, जिससे जाति के परम्परागत बंधन ढीले हुए। नये गठबंधन बने और पेशागत जड़ता टूटी। नये रोज़गार क़ायम हुए और दलित रेलवे मज़दूर, अंग्रेज़ों के घरेलू नौकर और सहायक, ऑफ़िसों के क्लर्क और चपरासी, और नगर निगम के सफ़ाई कर्मचारियों के रूप में भी सामने आये।[14] कुछ इस तरह के व्यापारों में भी दलितों को तरक़्क़ी करने का मौक़ा मिला, जिन्हें सवर्ण नापसंद करते थे। चमड़ा, तिलहन, शराब और धातु व्यवसाय के ज़रिये कुछ चमार, डोम, तेली और कलवार परिवारों को सम्पत्ति अर्जित करने का मौक़ा मिला। कई चमारों ने जूते, घोड़े की जीनसाज़ी और चमड़े के काम करके रुपये कमाये। उन्होंने कानपुर और अलीगढ़ के आस-पास चमड़े के कुछ बड़े कारख़ाने लगाये। आगरा में चमार जाति के कुछ परिवारों को विश्वसनीय व्यवसायियों के रूप में भी स्वीकारा गया।

दलितों के एक हिस्से को स्कूल और कॉलेज, प्रिंट और प्रकाशन, सार्वजनिक और राजनीतिक संस्थानों, कोर्ट और रेलवे जैसी आधुनिक संस्थाओं में अपनी सामाजिक, राजनीति और आर्थिक अग्रगति की सम्भावनाएँ नज़र आयीं।[15] शिक्षा के अवसरों में सीमित विकास के कारण उत्तर प्रदेश में दलितों का एक छोटा शिक्षित अभिजात तबक़ा उभरा। 1890 के बाद उत्तर प्रदेश में दलितों की जाति संस्थाओं और सभाओं में काफ़ी बढ़ोतरी हुई, जिनके अपने आंदोलन, प्रकाशन, पत्रिकाएँ और मंदिर थे। उन्होंने अपने समुदायों की एक अलग पहचान बनाने के लिए अलग धार्मिक और सामाजिक प्रथाएँ शुरू कीं। शहरीकरण के कारण पहले की दबी-छिपी दलित उप-आबादियों को उभरने, और लिंग, वर्ग और जाति की विविध अभिव्यक्तियों को आवाज़ देने का मौक़ा मिला। भाषायी जीवन में रचे-बसे दलित जातियों के पैरवीकार और नुमाइंदे सामने आये और उन्होंने दलितों की हैसियत और अधिकारों के लिए सशक्त आवाज़ उठायी।[16] प्रिंट पत्रकारिता के विकास से दलितों को एक पृथक सार्वजनिक क्षेत्र मिला, जिसके ज़रिये दलित समाज-सुधारकों ने एक नयी दलित-पहचान बनाने का काम किया। इन दलित-प्रचारकों ने जाति-उत्पत्ति और उसके इतिहास का नया मूल्यांकन किया और ब्राह्मणवादी वर्चस्व और जातिवादी ऊँच-नीच की व्यापक आलोचना की।[17] अछूतानन्द जैसे दलित नेताओं ने आदि हिंदू आंदोलन-जैसी उल्लेखनीय मुहिम छेड़ी, जिसने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के अलावा दलितों को भारत का मूल निवासी बताने का अभियान चलाया।[18] उन्होंने सरकार को कई माँग-पत्र दिये जिनमें दलितों के लिए सार्वजनिक बहालियों और राजनीतिक प्रतिनिधित्व में विशेष प्रावधान की बात की गयी।[19] इस प्रकार कुछ दलितों ने औपनिवेशिक आधुनिकता को अपनी मुक्ति के एक सीमित अवसर के रूप में देखा-समझा।

---

[13] *रॉयल (व्हीटले) कमीशन ऑफ़ लेबर इन इंडिया, एविडेंस,* वॉल्यूम III, लंदन, 1931: 133; *रिपोर्ट ऑफ़ द डिपार्टमेंट ऑफ़ इंडस्ट्रीज इन यूपी, 1935-36,* इलाहाबाद (1937).

[14] नंदिनी गुप्तू (2001).

[15] अनुपमा राव (2009), द *कास्ट क्वेश्चन : दलित्स ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

[16] सेंसस ऑफ़ इंडिया, *1931, यूपी,* खण्ड XVIII पार्ट I *रिपोर्ट,* इलाहाबाद (1933): 554-56.

[17] रामनारायण एस. रावत (2012).

[18] मंगल सिंह जाटव (1997), *स्वर्गीय श्री श्री 108 स्वामी अछूतानन्द जी का जीवन परिचय,* ग्वालियर; राजपाल सिंह 'राज' (2003) *स्वामी अछूतानन्द हरिहर,* दिल्ली; चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1968), *श्री, श्री 108 स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर',* लखनऊ.

[19] नंदिनी गुप्तू (2001) : 154-75; रामनारायण एस. रावत (2012) : 120-84.

इसी समय उत्तर प्रदेश में सुधारवादी और साम्प्रदायिक तेवर भी परवान चढ़ रहे थे। आर्य समाज जैसे आंदोलन जाति की जकड़बंदी की सीमित आलोचना करते हुए उसे आधुनिकता, सभ्यता और राष्ट्र-निर्माण से जोड़ रहे थे। आर्य समाज के अनुसार वैदिक अतीत में पिछड़ों का एक निश्चित स्थान था और अपनी आर्य पहचान भुलाने के कारण ही उन्होंने गंदी और पिछड़ी जीवन पद्धति को अपनाया। इसलिए *शुद्धि* के ज़रिये उन्हें वापस लाने का कार्यभार नियत किया गया। आर्य समाजियों ने कम-से-कम सिद्धांततः पिछड़ों को कुछ आज़ादी देना स्वीकार किया।[20] इन बदलावों और दलितों के अपने बढ़ते हुए उद्यम के कारण कई सवर्ण जातियों को अपनी जाति-श्रेष्ठता पर संकट के बादल घिरते दिखे। उनके कई प्रकाशनों में तत्कालीन समय को कलियुग क़रार दिया गया, अर्थात एक ऐसा समय जिसमें कोई भी जाति अपने परम्परागत तौर तरीक़ों के अनुसार काम नहीं कर रही थी। ब्राह्मण पूजा करने के बजाय सुस्त हो रहे थे, क्षत्रिय वीर होने के बजाय सेक्स के शिकार हो रहे थे, और निम्न जातियाँ सेवा का धर्म स्वीकारने के बजाय उद्दंड होकर अधिकार माँगते हुए जाति-क्रम और समाज में अपनी जगह भूल रही थीं।[21] *ब्राह्मण सुधार* नामक एक सुधार-संहिता में कलियुग का चित्रण इस प्रकार किया गया :

> आगे बढ़ गये तुम से जो छोटे थे कई दर्जे ... ...
> कइयों की हालत यहाँ तक बिगड़ी, शूद्रों की करते हैं ख़िदमतगारी।[22]

इस लेख की पृष्ठभूमि यही है। एक ख़ास ऐतिहासिक मुक़ाम पर उच्च जातियों ने दलित-पौरुष का निर्माण और विखंडन किया, और उसके हाड़-मांस के शरीर को सामाजिक संबंधों के तहत उतार-चढ़ाव का निशाना बनाया। लेख में पहले औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में प्रभुत्वशाली ताक़तों, जैसे मिशनरी, अंग्रेज़, हिंदू सुधारवादी और आर्य समाज द्वारा दलित-पौरुष के निरूपण की विवेचना की गयी है। इसके बाद ख़ुद दलितों द्वारा दलित-पौरुष पर ज़ोर-आज़माइश को समझने का प्रयास किया गया है। लेख में लिंग के ज़रिये दलित-इतिहास और दलित पुरुष के संकट को जानने का प्रयास भी है।

औपनिवेशिक और उच्च जातीय वर्णनों के अंतर्विरोध

औपनिवेशिक भारत में पौरुष एक राष्ट्रीय सरोकार बनता हुआ दिखता है। उपनिवेशवाद और ब्रिटिश शासन ने अपना औचित्य स्थापित करने के लिए स्वयं की छवि पौरुषपूर्ण दिखायी और उसके मुक़ाबले भारतीय पुरुष, विशेषकर बंगाल के भद्रलोक पुरुष को ज़नाना कहा। इसके विरोध में राष्ट्रवाद ने पौरुष के अपने संस्करण तलाश किये। उन्होंने मर्दाना और ज़नाना की व्यक्तिगत दुश्चिंताओं को एक सामूहिक अर्थ दिया। विवेकानंद से गाँधी तक, सनातन धर्म से आर्य समाज तक, ब्रह्मचर्य से योद्धा कृष्ण तक— पौरुष अलग-अलग प्रकार से व्यक्त हो रहा था।[23] ऐसी अधिकतर सांस्कृतिक निर्मितियों में राष्ट्रीय पौरुष को मुख्यतः हिंदू उच्च जातीय छवि में ढाला गया। दलित पुरुष

---

[20] सूज़न बेली (1999); जे. टी. एफ. जॉर्डन्स (1981), *स्वामी श्रद्धानंद : हिज़ लाइफ ऐंड कॉज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 137

[21] 'समाज सुधार', *सुधा* (अप्रैल, 1929) : 318; ज्योतिस्वरूप शर्मा (1923), *अछूत मीमांसा,* अलीगढ़ : 1-11; बद्रीनारायण (1917), *भजन गौरक्षा गोपाल दर्शन,* हरदोई : 23; गोदीन शर्मा (1928), *कलियुग में सतयुग,* बांदा : 12.

[22] मंगतूराम लाटा (1922), *ब्राह्मण सुधार,* रामगढ़ : 5, 7.

[23] आशिस नंदी (1983); मृणालिनी सिन्हा (1995); जोसेफ़ एस. ऑल्टर (1993), *द रेसलर्स बॉडी : आइडेंटिटी ऐंड आइडियोलॉजी इन नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली; भीखू पारिख (1989), *कोलोनियलिज़्म, ट्रैडिशन ऐंड रिफ़ॉर्म : ऐन ऐनालिसिस ऑफ़ गाँधीज़ पॉलिटिकल डिस्कोर्स,* सेज, नयी दिल्ली : 172-206.

का शरीर पौरुष की इस राष्ट्रीय परिकल्पना के परे था, लेकिन इससे पूरी तरह अछूता भी नहीं। हिंदू उच्च जाति और औपनिवेशिक ताक़तों द्वारा दलितों की देह को तत्कालीन सत्ता संबंधों के साँचे में कसा जाने लगा। दलित पुरुष और उसके पौरुष को विभिन्न संदर्भों में अलग-अलग, और कभी-कभी अंतर्विरोधी तरीक़ों से परखा और दर्शाया गया। एक तरफ़ तो दलित कमतर और कमज़ोर हैसियत में मज़बूत पर मूर्ख होते हुए अपने मालिक की सेवा करने में तत्पर थे; तो दूसरी तरफ़ उन्हें उतना ही भयंकर अपराधी, हिंसक और ख़तरनाक बताया जाता था। ये दोनों ही छवियाँ एक संकीर्ण समझदारी के खाँचे में क़ैद थीं और अपनी वैचारिक ज़रूरतों के अनुसार एक दूसरे का पक्ष-पोषण भी करती थीं।

शोधकर्ताओं ने बताया है कि कैसे अंग्रेज़ों ने भारतीय पुरुषों को कमज़ोर और मर्दानगी में कमतर दिखाने की कोशिश की। ऐसे प्रयास दलित पुरुषों की निर्मिति में और भी ज़्यादा नज़र आते हैं। दलित पुरुष का शरीर श्रम का एक उपादान भर था। उसकी छवि बार-बार एक बुद्धू और कमज़ोर व्यक्ति के रूप में दिखायी जाती थी। इसका एक ख़ास मक़सद था। दलित पुरुष कठोर शारीरिक श्रम करते थे, इसलिए उनके शरीर को 'टिकाऊ' पर 'मंद' क़रार देकर उन पर कड़ी पाबंदी लगायी जा सकती थी। दलित पुरुषों की इस टकसाली छवि में उन्हें बार-बार बच्चे जैसा, हीन और पराधीन दिखाया जाता था। मसलन, औपनिवेशिक और उच्च जातीय साहित्य में चमार पुरुष को विनीत और कठोर परिश्रम हेतु तत्पर बताया गया है। दलित पुरुष के शरीर को शिशुवत, पालतू और व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए प्रशिक्षित माना गया। दलित गोया खेती करने के लिए ज़रूरी मशीन थे, जिनकी महत्ता उनके परिश्रम, उत्पादक गतिविधियों और टिकाऊपन में थी। वे काम के मामले में पशुवत थे। उनके शरीर का सुबह से शाम तक अनथक इस्तेमाल किया जा सकता था। ऐसे अनगिनत वर्णन हैं जिनमें उन्हें ख़ामोश ग़ुलामों की तरह खटते हुए दिखाया गया है। उत्तर प्रदेश के गज़टों में यह बार-बार बताया गया कि किस प्रकार चमार अच्छे और उद्यमी किसान हैं, पर वे आदतन मामूली-से कारणों के पीछे अपनी खेती-किसानी छोड़ने के लिए तैयार रहते हैं।[24] कई सेट्लमेंट रपटों में कहा गया कि चमार परिश्रमी और दब्बू होते हैं।

कई भूस्वामियों के घरों में दलित घरेलू काम करते थे। ऐसे दलित पुरुषों को 'अनियंत्रित' काम वासनाओं और हिंसा से पूरी तरह अप्रभावित दिखा कर उन्हें एक प्रकार से पुंसत्वहीन बना दिया गया। शक्ति के मापदंडों से अलग करके उनकी एक कमज़ोर छवि पुष्ट की गयी। वे ग़ुलाम और नौकर थे, जिनका बात-व्यवहार उच्च जाति के सेवायोग्य था।[25] वे विरोध या कोर्ट जाने की जुर्अत नहीं कर सकते थे। इस प्रकार अपने शोषण के समर्थन में ऊँची जाति के पुरुषों और औपनिवेशिक अधिकारियों ने दलित पुरुष की एक चालू कमज़ोर छवि को और पुख़्ता किया। इस विमर्श में दलित पुरुष को ऐसे सेक्सहीन, सुरक्षित, समन्वयी और नरम क़िस्म के मर्द के तौर पर पेश किया गया जिससे कठोर काम लिया जा सकता था। इसके तहत गाँव के स्वामियों और भूस्वामियों द्वारा दलित पुरुषों के प्रति उदार सुलूक भी शहरों में आज़ादी के कारण आयी अराजकता के बरक्स उचित ठहराया गया। गाँव को एक ऐसी सुंदर और अच्छी जगह की तरह चित्रित किया गया जहाँ समन्वय और शान्ति है, जहाँ ऊँची जाति के लोग निम्न जाति से मर्यादा के अनुसार व्यवहार करते हैं, और चमार या पासी

---

[24] एच. आर. नेवील (1907), *बदायूँ : अ गज़ेटियर, बीईंग वोल्यूम XV ऑफ़ द डिस्ट्रिक गज़ेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद : 72; एच. आर. नेवील (1911), *पीलीभीत : अ गजेटियर बीईंग वोल्यूम XVIII ऑफ़ द डिस्ट्रिक गज़ेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद, : 89; एच. आर. नेवील (1910), *शाहजहाँपुर : अ गजेटियर, बीईंग वोल्यूम XVII ऑफ़ द डिस्ट्रिक गज़ेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद : 19; ई. आर. नीव (1911), *फर्रुखाबाद: अ गजेटियर बीईंग वोल्यूम IX ऑफ़ द डिस्ट्रिक गज़ेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद : 69, 85.

[25] 'गृह विज्ञान', चाँद (नवम्बर, 1927) : 147-148; 'अछूतोद्धार का प्रयत्न', चाँद (जून, 1926) : 214.

लावारिस माल—Unclaimed Property

राष्ट्रपति मौलाना मुहम्मदअली (बेलगाँव कॉङ्ग्रेस, प्लेटफ़ॉर्म से)

भाइयो ! अछूतों का सवाल हिन्दू-मुसलमान दोनों का ही सवाल है ! बेहतर तो यही हो कि हिन्दू और मुसलमान मिल कर—समझौता करके—इन्हें आपस में आधा-आधा बाँट लें। इससे हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद हमेशा के लिए क़ायम हो जायगा !

स्वराजिस्ट—जनाब, बिलकुल ठीक और बजा फ़र्माते हैं। हम लोग क़तई मुत्तफ़िक़ राय हैं। आख़िर इन अछूत बेचारों का भी तो ठिकाना लगना ही चाहिए।

कॉङ्ग्रेस का प्रतिनिधि-मण्डल—आमीन ! आमीन !!

स्रोत : *चाँद* (मई, 1927): 187.

पुरुष को भी सम्मान से बुलाया जाता है। बात कुछ इस तरह रखी गयी कि नौकरी से कहीं ज़्यादा ऊँचा दर्जा है सेवा का! प्रसिद्ध हिंदी पत्रिका *चाँद* में प्रकाशित एक लेख 'हिंदू भंगी' में कहा गया :

> भंगी का मतलब है सेवा करना। यह सेवक समाज का नाम है।... यदि भंगी जाति सफ़ाई का कार्य छोड़ दे तो पर्दानशीन स्त्रियों के पर्दे और अमीरों की शान की रक्षा कौन करेगा?... नाई और धोबी के समान भंगी भी हमारे नौकर नहीं बल्कि हमारे सेवक हैं ... वे भंगी जो वेतन के लिए मुनिस्पेलटी में काम करते हैं वे वेतनभोगी हैं लेकिन असली भंगी वह है जो बिना लालच के सेवा करता है।[26]

दलित पुरुष की बौद्धिक क्षमताओं को भी निम्न और शिशुवत बता कर उनके शरीर को मस्तिष्क पर हावी क़रार दिया गया।[27] दलित पुरुषों को सोचने-समझने में निम्न, मंद और मूर्ख दिखा कर साबित किया गया कि उनका मस्तिष्क किसी काम का नहीं है, केवल उनका शरीर काम का है। इस प्रकार ऊँची जाति और दलित पुरुष के बीच एक विपरीता द्वित्व थी : मस्तिष्क/शरीर, सक्रिय/निष्क्रिय, तर्क/भावना और सुराज /*अराजकता*। यहाँ तक कि आर्य समाज भी इस धारा में बह गया। *सुधा* के एक लेख में आर्य समाज के एक अग्रणी व्यक्तित्व गंगाप्रसाद उपाध्याय ने लिखा :

---

[26] गौरीशंकर सिहं चंदेल (1940), 'हिंदू भंगी', *चाँद*, जनवरी : 133-134.

[27] 'दलित समुदाय की आर्थिक समस्या', *चाँद* (1940), जनवरी : 133-34.

> शूद्र स्वयं कोई काम नहीं कर सकते। हाँ, दूसरों की आज्ञा का पालन कर सकते हैं। यदि वे किसी विद्यार्थी के पास हैं, तो उसकी पुस्तकों को सँभाल सकते हैं; यदि किसी सिपाही के साथ हैं, तो उसकी तलवार झाड़-पोंछ सकते हैं; यदि किसी व्यापारी के पास हैं, तो उसकी दुकान में झाड़ू दे सकते हैं। ऐसे पुरुषों को वेदों ने पैरों के समान अर्थात शूद्र कहा है। याद रखना चाहिए, शूद्र अनावश्यक नहीं हैं। परंतु इनसे कोई मौलिक कार्य नहीं हो सकता। ये केवल दूसरों का अनुसरण कर सकते हैं।[28]

सनातनी दृष्टिकोण से लिखे एक अन्य लेख में कहा गया :

> छुआछूत पवित्रता का द्योतक है, घृणा का नहीं। ... हमें अछूतों को उठाना है, किंतु इसका मतलब यह कदापि नहीं होना चाहिए दलितोद्धार का ढोल पीटकर उनके साथ सहभोज किया जाये, उन्हें जनेऊ पहनाया जाये, उनसे रोटी-बेटी का संबंध किया जाये। अंत्यजों से उन्हीं का पेशा कराने में हमारा कल्याण है।[29]

यहाँ तक कहा गया कि दलित मज़दूर और भूस्वामियों के बीच पति-पत्नी जैसा प्यार भरा रिश्ता है। दलित और उसके स्वामी के बीच असमान संबंध और प्रतियोगिता के अभाव को प्रेम संबंधों का आदर्श क़रार किया गया।[30] दलित पुरुषों के साथ सहानुभूति रखने वाले वर्णन भी इसी भाषा में रचे-बसे थे। यहाँ एक रूमानी जातिवाद था जिसमें दलित पुरुष की स्नेहपूर्ण प्रकृति पर ज़ोर था।[31] इन विचारों का कइयों ने समर्थन किया। ऐनी बेसेंट का सार देखिये :

> वे (शोषित वर्ग) सरल, कमज़ोर, नियमपूर्वक मेहनती और पूर्णत: आज्ञाकारी होते हैं। जब किसी ज़रूरत में न हों, तो मधुर पर सीमित बुद्धिवाले होते हैं। सच्चाई और नागरिक मूल्यों से पूरी तरह वंचित, पर स्नेहिल और ज़रा सी कृपा से उपकृत हो जाते हैं।[32]

एक ओर मिशनरियों और दूसरी ओर हिंदू सुधारकों द्वारा धर्मांतरण के पक्ष और विपक्ष में लिखे गये साहित्य में भी इसी छवि का पक्षपोषण किया गया। मिशनरी रिकॉर्डों में शोषित वर्ग के निश्छल हृदय की बार-बार चर्चा की गयी। एक में कहा गया :

> वे बेहद अच्छे ईसाई बनते हैं। उनकी आस्था गहन है और कइओं की प्रार्थना में एक शिशुवत विश्वास और सादगी है।[33]

दूसरी ओर हिंदू सुधारकों की रचनाओं में दलितों को धर्मांतरण का निर्णय ख़ुद लेने में अक्षम बताया गया और कहा गया कि वे केवल मौलवियों और मिशनरियों द्वारा बहकाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश की नामी-गिरामी पत्रिकाओं में इस विषय पर प्रकाशित कार्टूनों में दलित पुरुष के शरीर को दबा-झुका, छोटा, काला और बग़ैर दिमाग़ का दिखलाया गया। एक कार्टून में उन्हें फ़ुटबॉल बनाया गया जिसे एक हिंदू पंडित बहिष्कार का फ़तवा देकर ठोकर मार रहा है और मौलवी और पादरी उस अछूत रूपी गेंद को लपक रहे हैं।[34] एक अन्य कार्टून में उन्हें लावारिस माल के रूप में दिखाया गया।[35] यहाँ

---

[28] गंगाप्रसाद उपाध्याय (1929), 'समाज सुधार', *सुधा,* जुलाई : 665.

[29] लज्जाराम (1928), 'समाज सुधार', *सुधा,* जनवरी : 704.

[30] कृष्णानन्द शर्मा (1923), *हिंदुओं की उन्नति और अछूत,* बनारस.

[31] भगवानदीन प्रसाद (1915), *भाईचारा,* इलाहाबाद; शिवनारायण मिश्रा (1922), *बहिष्कृत भारत,* कानपुर.

[32] *द डिप्रेस्ड क्लासेज ऑफ़ इंडिया : ऐन इंक्वायरी इनटू देयर कंडीशन ऐंड सजेशंस फॉर देयर अपलिफ़्ट,* दिल्ली, 1977 [1912] : 31.

[33] *ऐनुअल रिपोर्ट ऑफ़ द प्रेसाइडिंग एल्डर, नॉर्थ वेस्ट इंडिया कान्फ्रेंस,* लखनऊ (1895).

[34] *चाँद* (जनवरी, 1929): 455.

[35] *चाँद* (मई, 1929): 187.

दलितों की अपनी कोई आवाज़ नहीं थी। कई तस्वीरों और कार्टूनों में दलित के कमज़ोर, छोटे और काले शरीर की छवि को पुख़्ता किया गया। एक सफ़ेद पृष्ठभूमि में दलित के काले-कलूटे, छोटे, कमज़ोर शरीर को सवर्ण, श्वेत, सुगठित शरीर के बरक्स चित्रित किया गया। ये तस्वीरें और कार्टून दलित शरीर के सांस्कृतिक अर्थ गढ़ती थीं। साथ ही ये सुधारकों के सौंदर्यशास्त्रीय, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्य की अभिव्यक्ति भी थीं। ये बार-बार ज़ाहिर करती थीं कि प्रिंट माध्यम में सामाजिक स्वीकृति से क्या कुछ अभिव्यक्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि दलितों की संवेदनशील छवियों में भी उन्हें विनम्रता और दब्बूपन का प्रतीक दिखाया गया, जिनमें दलित अर्द्ध-नग्न, घुटनों के बल झुके और डरे-सहमे नज़र आते हैं। इस प्रकार सार्वजनिक जगहों में दलित पुरुषों के दृश्य-निरूपण में, बेहद सीमित संदर्भों में, उन्हें उन पर आरोपित औक़ात के मुताबिक़ चित्रित किया गया।

औपनिवेशिक नज़रियों से ऐसे साँचे और मज़बूत हुए। दलित पुरुषों को अक्सर गंदा, छोटा और कुरूप दिखाया गया। इसीलिए क्रुक ने लिखा : भंगी गहरे रंग के होते हैं, उनकी क़द-काठी ठिगनी होती है और उनकी ख़ास गहरी चमकती आँखें होती हैं।[36] शेरिंग का कहना था कि डोम गहरे रंग के, क़द-काठी में छोटे और देखने में विकृत होते हैं और इसीलिए उन्हें बेहतर जातियों से तत्काल अलग पहचाना जा सकता है। यहाँ तक कि मिशनरी साहित्य भी इससे अछूता न रहा। एक पुस्तिका में कहा गया :

> आर्य जाति के लोग लम्बे, चौड़े, सुन्दर, सुडौल और सभ्य होते हैं। नीच जाति के लोग कुरूप, कुडौल, नाटे क़द के और असभ्य होते हैं।[37]

यहाँ जिस भाषा का इस्तेमाल किया गया, वह केवल मानव-व्यवहार या रीति-रिवाज की द्योतक नहीं थी। इन अभिव्यक्तियों में यह समझदारी निहित थी कि दलितों के ख़ास शारीरिक लक्षण होते हैं, जो उनके नैतिक गुणों से जुड़े हुए हैं। इस समझदारी के तहत ये लेखक सामाजिक रूप से स्वीकृत रीति-रिवाजों पर अपनी मुहर लगा रहे थे।

लेकिन दूसरी तरफ़ ऐसा साहित्य भी था जिसमें दलित पुरुष के शरीर की एक निश्चित रूढ़ पहचान के बजाय एकाधिक पहचानें उभर रही थीं। इस साहित्य में उन्हें आमतौर पर कामुक, अपराधी, हिंसक, ख़तरनाक और अनियंत्रित क़रार किया जा रहा था। इस तरह की समाज द्वारा स्वीकृत और पूर्वग्रहग्रस्त समझदारी को जातिगत और नस्ली भेदभाव की भाषा और बोल-चाल में अभिव्यक्त किया जा रहा था। और जैसे-जैसे दलित-अधिकारों की आवाज़ तेज़ हुई, ऐसी भाषायी अभिव्यक्ति बढ़ती गयी। इस प्रकार कुछ निम्न जातियों को उनकी अपनी पहचान से वंचित करके उन्हें एकरूप हिंदू मुख्यधारा का एक निम्नतर और बिगड़ा हुआ रूप बताया गया। शोधकर्ताओं ने बताया है कि अंग्रेज़ों ने किस प्रकार निम्न जातियों को अपराधी प्रवृत्ति वाला, और जन्म/वंश से ही हिंदू शृंखला की निचली सीढ़ी में अवस्थित बताया।[38] इस प्रकार औपनिवेशिक काम-काज में ब्राह्मणवादी चौखटे को स्वीकारते हुए उसके आधिपत्य का मान बढ़ाया गया। अंग्रेज़ों के कई आधिकारिक दस्तावेज़ों और उच्च जातीय वर्णनों में दलित पुरुषों, ख़ासकर चमारों को मवेशियों और गायों की चोरी से जोड़ा गया। हालाँकि उत्तर प्रदेश के अधिकतर चमार खेती से जुड़े हुए थे, फिर भी उनकी व्यापक छवि में उन्हें

---

[36] डब्ल्यू. क्रुक 1974 [1896], *द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ द नार्थ वेस्टर्न इंडिया,* खण्ड I, कॉस्मो पब्लिकेशंस, दिल्ली : 261.

[37] *जाति-पाँति का वर्णन,* नॉर्थ इंडियन क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी, इलाहाबाद, (1924) : 3.

[38] सैंड्रिया बी. फ्रीटैग (1991) 'क्राइम इन द सोशल ऑर्डर ऑफ़ कोलोनियल नॉर्थ इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* खण्ड 25, अंक 2 : 227-61; आनंद अ येंग (संपा.) (1985), *क्राइम ऐंड क्रिमिनैलिटी इन ब्रिटिश इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ एरिज़ोना प्रेस, एरिज़ोना; संजय निगम (1990), 'डिसिप्लिंग ऐंड पोलिसिंग द '' क्रिमिनल्स बाइ बर्थ'' पार्ट I: द मेकिंग ऑफ़ कोलोनियल स्टीरियोटाइप— द क्रिमिनल ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 27, अंक 2 : 131-164; मुकुल कुमार (2004), 'रिलेशनशिप ऑफ़ कास्ट ऐंड क्राइम इन कोलोनियल इंडिया : अ डिस्कोर्स ऐनालिसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 10.

चमड़े के रोज़गार से जोड़कर देखा गया। यह माना गया कि चमारों की रोज़ी-रोटी जूता बनाने और चमड़े के काम से जुड़ी है और इसीलिए अपने आर्थिक लाभ के कारण वे मवेशियों को ज़हर देते हैं। इस प्रकार औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में उनकी एक अपराधी छवि विशेष रूप से गढ़ी और मज़बूत की गयी। क्रुक के अनुसार ऐसे कई मामले सामने आये थे जिनमें चमारों ने चमड़े और मांस के लिए मवेशियों को ज़हर दिया।[39] गोरखपुर के कमिश्नर विलियम होई मवेशियों को ज़हर देने में चमारों की अपराधी प्रवृत्ति के प्रति पूरी तरह आश्वस्त थे। इतिहासकारों ने दिखाया है कि किस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में औपनिवेशिक शासन ने सबसे पहले मवेशियों को ज़हर देने की छिट-पुट वारदात को एक संगठित और पेशेवर अपराध के रूप में स्थापित किया और इसके लिए मुख्य रूप से चमारों को दोषी ठहराया।[40] एक अन्य दस्तावेज़ में कहा गया कि भंगी समुदाय हर प्रकार के अपराध में सबसे ज़्यादा संलग्न है।[41] *क्रिमिनल ट्राइब एक्ट 1851* के तहत अवध के पासियों को अपराधी जाति के रूप में दर्ज किया गया और कहा गया कि वे वंशानुगत डाकू और चोर होते हैं।[42] दुसाधों को पियक्कड़ घोषित किया गया। गोरखपुर के डोमों को अपराधी प्रवृत्ति वाला और हमेशा जेल जाने के लिए तैयार माना गया।[43] अपराधी और निम्न जाति के बीच की विभाजन रेखा सँकरी कर दी गयी और दोनों को प्राय: एकरूप देखा जाने लगा। अंग्रेज़ों ने कुछ ख़ास तरह के अनिवार्य तत्त्व ईजाद किये जिन्हें दलित पुरुषों के सामाजिक अस्तित्व और अनुभव का अभिन्न अंग बना दिया गया।

और जब उत्तर प्रदेश के कुछ दलित 1920 के ज़मींदार विरोधी और 1940 के बेगार विरोधी आंदोलनों में सक्रिय हुए तो उन्हें हिंसा के आग्रही के रूप में एक ख़तरा माना गया। दंगों के दौरान भी दलितों को एक सामाजिक बुराई के रूप में चित्रित किया गया। कानपुर के एक अधिकारी ने 1920 में कहा :

> कानपुर की आबादी में काफ़ी चमार हैं जो चमड़ों के कारखानों में काम करते हैं। वे हिंसा और मारा-मारी के लिए कुख्यात हैं और हाल के दंगों में सबसे सक्रिय हिस्सेदार रहे हैं।[44]

वैसे तो मुसलमान मर्दों को ऊँची जाति की हिंदू महिलाओं के लिए सबसे गम्भीर ख़तरे के रूप में चित्रित किया गया,[45] पर कभी-कभी दलित पुरुषों को भी इसी नज़र से देखा जाता था। ख़ासकर सार्वजनिक स्थानों को ख़तरनाक कहा गया, जहाँ नीच जाति के और मुस्लिम मर्द ऊँची जाति की स्त्रियों पर डोरे डालते थे। दलित पुरुषों की सम्भावित काम-लोलुपता के कारण ऊँची जाति की स्त्रियों को संरक्षण के नाम पर नियंत्रित किया जा सकता था। कई लोकप्रिय संहिताओं में सवर्ण स्त्रियों को दलित पुरुषों से दूर रहने के निर्देश दिये गये।[46] इसके साथ यह डर भी समाया हुआ था कि कहीं ऊँची जाति की कुछ विधवाएँ मुसलमान और नीची जाति के पुरुषों के साथ प्रेम और शादी न रचा लें। एक रपट में उल्लेख किया गया कि ऊँची जाति की दो विधवाएँ एक धोबी और भंगी के साथ

---

[39] डब्ल्यू. क्रुक 1974 [1896] : 190.

[40] रामनारायण एस. रावत (2012) : 55-84.

[41] एच. आर. नेवील (1911) : 131.

[42] एस. टी. होलिंस (1914), *द क्रिमिनल ट्राइब्स ऑफ़ द यूनाइटेड प्राविंसेज़*, इलाहाबाद : 92-94.

[43] 42-48/नवम्बर 1916, जेल्स, ए, होम डिपार्टमेंट, नेशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया (आगे ऐनएआई).

[44] 291-302/जून 1900, पब्लिक, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

[45] चारु गुप्ता (2001), *सेक्शुअलिटी, ऑब्सिनिटी, कम्युनिटी: वीमेन मुस्लिम्स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

[46] तीर्थराम (1924), *स्त्रियों को चेतावनी*, इलाहाबाद : 12; चिमनलाल वैश्य (1924), *नारायणी शिक्षा अर्थात गृहस्थाश्रम*, इलाहाबाद : 285.

एक ठाट से गाली देकर दान कर रहा मज़दूरी !
एक जाति, अछूत ईसाई, में रहती कितनी दूरी ?

स्रोत : *व्यंग्य चित्रावली* (1930), चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

भाग गयी, और दोनों पुरुष अपनी पत्नियों के साथ ईसाई बन गये।[47] उच्च जाति के पुरुषों में अपनी स्त्रियों को मुस्लिम, ईसाई या निम्न जाति के पुरुषों के हाथों खोने का ख़ौफ़ समा गया था। कामलोलुप दलित पुरुष की रुटीन छवि के साथ दलित स्त्री की भी एक ओछी और वासनालिप्त तस्वीर जुड़ी हुई थी। सोच यह था कि गर्म, कामुक दलित स्त्री को संतुष्ट करने के लिए दलित पुरुष को ख़ासा मज़बूत और सक्रिय होना पड़ता है।[48] साथ ही दलित पुरुषों को शराबी और हिंसक भी चित्रित करके यह बताया गया कि वे अपनी स्त्रियों पर नियमित हिंसा करते थे।[49] ऊँची जाति के पुरुषों ने अपनी पितृसत्तात्मक प्रवृत्तियों से ध्यान हटाने के लिए भी दलित पुरुषों की छवि ख़राब की। दलितपन को ख़तरनाक, जंगली और पाशविक क़रार दिया गया।

इस प्रकार दलित पुरुषों के शरीर की वैचारिक निर्मिति में हमें दो मुख्य परस्पर विरोधी धाराएँ दिखती हैं : एक, स्वीकृत और इच्छित शरीर, जो अपनी उपयोगिता के अनुसार परिभाषित और परिचालित किया जा सकता था। इस शरीर को मेहनती, विनम्र और आज्ञाकारी नौकर के गुणों से

---

[47] 'समाज की चिंगारियाँ', *चाँद* (नवम्बर, 1927): 151–52.

[48] 'अछूत', *चाँद* (अगस्त ,1934): 352–59.

[49] 'बाल पत्नियों के आँसू', *चाँद* (मार्च, 1927): 461.

सजाया गया। दूसरा, बेकार और ख़तरनाक शरीर, जो सेवा से इनकार करता था, अपराधी था और ऊँची जातियों के वर्चस्व को चुनौती देने की जुर्अत करता था।

हम भी पुरुष : दलित पुरुष की पहचान और पौरुष पर ज़ोर

लेकिन, दलित पुरुष कोई फ़िल्म का परदा नहीं थे जिस पर उच्च जाति के पुरुष और औपनिवेशिक शासक अपनी जाति, नस्ल और लिंग की दुश्चिन्ताओं का प्रदर्शन करते रहते। दलित पुरुष भी अपनी पहचान क़ायम करने की प्रक्रिया में एक ऐतिहासिक किरदार थे। उन्होंने कई तरह से अपने पौरुष को उभार कर, बनी-बनायी छवियों को चुनौती देने की कोशिश की। ये प्रयास कई बार परोक्ष, परस्पर विरोधी और अस्पष्ट थे, और राजनीतिक गतिविधियों, सांस्कृतिक क्रिया-कलापों और सामाजिक-सार्वजनिक क्षेत्र में पहचान के साथ जुड़े हुए थे। काम, मनोरंजन, संस्कृति, युद्ध और राजनीतिक क्षेत्रों में अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी को दलित पुरुषों ने अपने को जाति की अलगाववादी मार से बचाने और अपना पौरुष रचने के लिए इस्तेमाल किया। शहरों में भी भेदभाव के कारण दलितों के लिए प्रभावशाली सामाजिक मानकों के तहत अपना अलहदा पौरुष प्रदर्शित करना मुश्किल था। फिर भी, शहर-पलायन के कारण दलितों को अपनी पौरुष-पहचान बनाने में कुछ मदद मिली, और उनके होने और दीखने के नये रास्ते सामने आये। यहाँ मैं संक्षेप में ऐसे कुछ क्षेत्रों की चर्चा करूँगी जिनमें दलितों ने, कुछ ख़ास संदर्भों में, अपने आधारों पर पौरुष को पुन:परिभाषित करने की कोशिश की। इन प्रयासों से कई बार दलितों की सामाजिक हैसियत और अधिकारों पर सकारात्मक असर हुआ और कई अन्य मुक़ामों पर पितृसत्तात्मक संरचनाओं और पौरुष की स्थापित प्रवृत्तियों को और मज़बूती मिली।

उदाहरण के लिए, सांस्कृतिक क्षेत्र में दलितों के मिथक और गाथाओं ने यथार्थ के नये मॉडल बनाये। औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में कुछ दलित गाने-बजाने वालों ने *आल्हाखंड* को अपना लिया और इसे राजपूताने के बजाय दलित वीरता की कहानी बना दिया।[50] उन्होंने आल्हा और ऊदल, दो भाइयों को अपना लिया, जिनके पराक्रम से राजा परमल को पृथ्वीराज के ख़िलाफ़ युद्ध में मदद मिली थी। कई अन्य संस्करणों में इस महागाथा के दलित किरदारों, जैसे बिरिया मालिन जो फूल चुनने के बहाने आल्हा को संदेश देती थी, या कन्नौजियों के नेता धुनवा तेली, या एक मल्लाह, या एक कोरी को दलित वीरों में जोड़ा गया। ग्रामीण दलितों ने अपने महाकाव्यों में इनका गुणगान किया और आगरा के जाटवों ने तो आल्हा और ऊदल को भी अछूत बताया। उन्हें न्याय के लिए संघर्ष करने वाले प्रतीकों के रूप में देखा गया। दुसाधों द्वारा गाये जाने वाले *आल्हा* और *पचरा* और दलितों के *बटोहिया* गाने ऐसी कहानियों के प्रतीक बन गये। 1940 के दशक में आम्बेडकर उत्तर प्रदेश के दलितों की कविताओं और लोक काव्यों के अभिन्न अंग बन गये। उन्हें एक महान नेता और हीरो के रूप में चित्रित किया गया, जो देश के अन्य नेताओं के साथ गर्व से खड़े हो सकते थे।[51] इन कहानियों और गीतों के ज़रिये दलितों ने अछूतों को मनसा-वाचा-कर्मणा महान योद्धा बनाने की कोशिश की। मिथक और यथार्थ के सामंजस्य से वीरता और योद्धा निर्मित हुए, जिनसे सामाजिक अधिकारों को एक नयी भाषा मिली। सार्वजनिक हलक़ों में दलित-पौरुष की एक जटिल विचारधारा को आकार मिल रहा था जो दलितों के अपने ख़ास अनुभवों से विकसित हो रही थी। इन सबसे मिलकर दलित-पौरुष की एक अलग भाषा और शब्दावली अभिव्यक्त हुई।

---

[50] बिपिनबिहारी त्रिवेदी (1950), 'लोक कथा के नायक आल्हा ऊदल', *विशाल भारत*, मार्च : 193-96.

[51] ओवेन एम. लिंच (1972), 'डॉ. बी.आर. आम्बेडकर : मिथ ऐंड करिश्मा', संकलित, जे. माइकल महार (सम्पा.), *द अनटचेबल्स इन कंटेम्पररी इंडिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ एरिजोना प्रेस, एरिजोना : 107.

इस दौर में सैन्य आधुनिकीकरण के कारण उत्तर प्रदेश की जातियों को अपना पौरुष दिखाने का मौक़ा मिला। कई जातियों, जैसे शहरी ग़रीब शूद्र और यादवों ने वीर योद्धा के मुहावरों और भाषा को अपनाया, जिससे उनकी सामाजिक गतिशीलता को मदद मिली।[52] दलितों ने भी इस मौक़े का इस्तेमाल करते हुए अपनी सैन्य परम्पराओं और पौरुष की परिकल्पनाओं पर ज़ोर देना शुरू किया। ब्रिटिश सेना और पुलिस में दलितों की भूमिका और भागीदारी को लेकर ख़ासा विवाद है। दलित शोधकर्ताओं और कुछ इतिहासकारों के अनुसार सेना के औपनिवेशिक काल के इतिहास से पता चलता है कि चमार, दुसाध, डोम, धानुक और पासी ने अंग्रेज़ी सेना के सिपाही के रूप में, ख़ासकर पलासी के युद्ध और 1857 में, महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।[53] ऐसा लगता है कि जब अंग्रेज़ों ने अपनी अर्थव्यवस्था को सैनिक सत्ता में रूपांतरित करना शुरू किया, तो निम्न जातियों ने पहले सिपाही मुहैया कराये। पर अंग्रेज़ों द्वारा दलितों की बहाली अस्थिर साबित हुई और धीरे-धीरे सेना का ब्राह्मणीकरण और क्षत्रियकरण होने लगा।[54] 1800 से ही अंग्रेज़ी कमांडर सेना से उन जवानों की बर्ख़ास्तगी की सिफ़ारिश करने लगे जिन्हें आपत्तिजनक निम्न जाति का माना जाता था।[55] लेकिन साथ ही कुछ लोगों ने उनकी बहाली के पक्ष में भी तर्क दिये। अवध पुलिस के मुख्य लेफ़्टिनेंट ब्रूस ने 1860 में अपनी एक रिपोर्ट में इसका पुरज़ोर समर्थन किया। उनके पुलिस महक़मे में तब 462 भंगी, 252 चमार और 764 पासी थे।[56] ब्रूस ने भंगियों के बारे में कहा :

> सफ़ाई करने वालों में अनगिनत भेद हैं, पर वो सबसे अच्छे सिपाही होते हैं। उनके पुरुषों का क़द अच्छा होता है, उनका शारीरिक गठन बेहतर है, वो कुछ भी और किसी के साथ भी खा-पी सकते हैं। वे बहादुर हैं, वे सेना में शामिल होने के लिए आतुर रहते हैं और तलवारबाज़ी के शौक़ीन और माहिर भी हैं। उनमें काफ़ी चतुराई भरी हुई है— पुलिस में उनकी संख्या 500 है और उन्होंने सिपाही और सैनिक के रूप में अच्छी भूमिका अदा की है।

ब्रूस ने पासियों की ख़ासकर तारीफ़ की :

> पासी... बेहद मेहनती और साहसी होते हैं। वे अवध और उससे लगते इलाक़ों में काफ़ी संख्या में गाँवों के चौकीदार हैं। वो तीर-कमान के विशेषज्ञ हैं और काफ़ी दूर से किसी को भी मार सकते हैं।... सैनिकों के रूप में पासी किसी भी मामले में शेख़ों से कम नहीं हैं।

लेकिन ऐसी तारीफ़ों के स्वर धीरे-धीरे हाशिये पर चले गये और 1857 के बाद सेना में इन जातियों की संख्या बहुत कम हो गयी। ज़्यादातर अँग्रेज़ अधिकारी उनकी भरती के ख़िलाफ़ थे। जॉन लारेंस ने अपने 5 जनवरी 1857 के एक पत्र में कहा कि चमार और भंगी को ब्राह्मण और क्षत्रिय के साथ सिपाही के रूप में भरती करना वैसा ही है जैसे यूरोप में किसी स्वस्थ व्यक्ति को कोढ़ी के सम्पर्क में रखना। बनारस के ब्रिगेडियर पी. गोर्डन ने चमारों और मेहतरों के बारे में लिखा कि वो

---

[52] नत्थूप्रसाद यादव (1938), 'ब्रिटिश शासन काल में यादवों की फ़ौजी उन्नति का इतिहास', *यादवेश,* खण्ड 1, अंक 2, : 21-28.

[53] विक्टर लौंगर (1981), *फ़ोरफ़्रंट फ़ारएवर : द हिस्ट्री ऑफ़ द महार रेज़ीमेंट, महार रेजीमेंट सेंटर,* सागर; आरडीथे बॉशम (1980), *अनटचेबल सोल्जर्स : द महार्स ऐंड द माज़बिस,* आम्बेडकर साहित्य प्रकाशन, बैंगलोर; स्टीफेन पी. कोहेन (1969), 'द अनटचेबल सोल्जर : कास्ट, पॉलिटिक्स ऐंड इंडियन आर्मी', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज,* खण्ड 28, अंक 3 : 453-68; डिर्क कोल्फ (1990), *नौकर, राजपूत ऐंड सिपॉय : दि एथ्नोहिस्ट्री ऑफ़ द मिलिट्री लेबर मार्केट इन हिंदुस्तान 1450-1950,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

[54] फिलिप कांस्टेबल (2001), 'द मार्जिनलाइज़ेशन ऑफ़ दलित मार्शल रेस इन लेट एंट्टींथ ऐंड अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी वेस्टर्न इंडिया', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 60, अंक 2 : 439-78.

[55] एफ/260/5780/ बोर्ड्स कॉलेक्शंस : 1808-09, ओरियंटल ऐंड इंडियन ऑफिस कलेक्शन, ब्रिटिश लाइब्रेरी (आगे से ओआईओसी).

[56] एल/एमआईएल/7/7236, ओआईओसी.

शराब पीकर बहकने वाले, दिखने में ठिगने, छोटे सीने और हाथ वाले होते हैं। पासी, चमार और भंगी को बार-बार शराबी, गंदा और बाज़ार में उत्पात मचानेवाला बताया गया।[57] उनका पौरुष निम्न, भौंडा और अपरिष्कृत माना गया।

पर दो महायुद्धों के दौर में सैनिकों की बढ़ती माँग के कारण बहाली की नीतियों के पुनर्मूल्यांकन की ज़रूरत महसूस की गयी। शोधकर्ताओं ने बताया है कि विशेषकर उत्तर प्रदेश के सज़ायाफ़्ता भंगियों को ब्रिटिश सरकार ने पहले विश्व युद्ध के दौरान भारत से बाहर की सैन्य सेवाओं के लिए इस्तेमाल किया।[58] ये बहालियाँ मुख्यत: निम्नस्तरीय सेवाओं के लिए की गयीं। गोरखपुर में डोमों को भंगियों के रूप में पंजीकृत करके सैन्य सेवाओं के लिए विदेश भेजा गया।[59] कुछ रमदसियों को भी बहाल किया गया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एक चमार रेजिमेंट बनाया गया। दलित सैनिकों की ज़रूरत मुख्यत: ग़ैर-योद्धा गतिविधियों के लिए थी। इस संदर्भ में दलित प्रवक्ताओं ने अपनी आवाज़ बुलंद की। उन्होंने ब्रिटिश शासन के दौरान अपनी सैन्य उपलब्धियों का गुणगान करते हुए एक लड़ाकू नज़रिया रखने की कोशिश की।[60] अखिल भारतीय हरिजन सभा के प्रधान रायबहादुर एस.पी. राजा ने अपने एक लेख 'हरिजन और सैनिक सेवा' में दलितों की वीरता और युद्ध क्षमता की तुलना कृष्ण से की।[61] लखनऊ में आदि हिंदू सभा के एक सम्मलेन में कहा गया कि दलितों को सेना और पुलिस में तुरंत बहाल किया जाए।[62] निम्न जातियों के लिए सेना में प्रवेश, चाहे ग़ैर-योद्धा गतिविधियों में ही क्यों न हो, बेहद सम्मान की बात थी। सैन्य सेवा सरकार से रियायत हासिल करने और अपनी सामाजिक हैसियत बढ़ाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण क़दम समझी जाती थी। दलित वंशावलियों में सेना में बहाली को सामाजिक और आर्थिक उद्धार, सम्मान और पौरुष के लिए एक अप्रतिम घड़ी माना गया। यह भी ग़ौरतलब है कि उत्तर प्रदेश में आदि हिंदू आंदोलन के संस्थापक और दलितों के प्रमुख नेता अछूतानन्द की शिक्षा-दीक्षा सेना की एक छावनी में हुई थी, जहाँ उनके पिता काम करते थे।

कुमाऊँ शिल्पकार सभा और आदि हिंदू आंदोलन के एक और प्रमुख नेता हरी प्रसाद तमता ने ब्रिटिश सेना में दलितों की सक्रिय भूमिका पर ख़ासा ज़ोर दिया। तमता ने अतीत में कुमाऊँ के शिल्पकारों की वीरतापूर्ण भूमिका की चर्चा करते हुए दलितों की क्षत्रिय नौकरी की परम्परा का उल्लेख किया।[63] कुमाऊँ के कई शिल्पकार, जो डोम की श्रेणी में भी आते थे, द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सेना में भर्ती हुए। अछूत होने के कारण ये शिल्पकार अधिकतर युद्ध में लड़ने वाली इकाई में नहीं बल्कि लेबर यूनिट में जाते थे। फिर भी, सेना का कोई भी तमगा उनके लिए सामाजिक हैसियत की एक बड़ी पहचान होता था। कई बार वे अपनी सैन्य सेवाओं को, चाहे वह कुली के रूप में ही हो, आधिकारिक अनुग्रह हासिल करने की माँग के लिए प्रयोग करते थे।[64] उत्तर प्रदेश के इस समय के

[57] एल/एमआईएल/14/216, ओआईओसी; एल/एमआईएल/7/12141, ओआईओसी.

[58] राधिका सिंघा (2007), 'फाइंडिंग लेबर फ़्रॉम इंडिया फ़ॉर द वार इन इराक़ : द जेल पॉर्टर ऐंड लेबर कॉर्प्स, 1916-1920', *कॉम्पेरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 49, अंक 2 : 412-45; ये भी देखें, 42-48/नवम्बर 1916, जेल्स, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई, 'रिक्रूटमेंट ऑफ़ कन्विक्ट स्वीपर्स फॉर सर्विस इन मेसोपोटैमिया'; 5/मई 1916, पोलिस, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

[59] 6/7 जून 1913, पुलिस, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई; 42-48/नवंबर 1916, जेल्स, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

[60] 'अस्पृश्यों में जागृति', *चाँद* (फरवरी, 1930): 775.

[61] एस. सी. राजा (1939), 'हरिजन और सैनिक सेवा', *चाँद* (जुलाई) : 200.

[62] *(सीक्रेट) पुलिस एबस्ट्रैक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस ऑफ़ यूपी गवर्नमेंट, 1922-40* (आगे से पीएआई), 24 फरवरी 1940 : 42.

[63] एल/पीजे/10/14, ओआईओसी.

[64] बंशीधर (1939), *क्षत्रिय शिल्पकार दर्पण,* अलीगढ़, : 59.

स्रोत : *व्यंग्य चित्रावली* (1930), चाँद कार्यालय, इलाहाबाद.

राज्यपाल मॉरिस हैलेट ने युद्ध प्रयासों में इन शिल्पकारों का बहुमूल्य योगदान स्वीकार किया।[65] मार्च, 1942 में तमता ने अपने एक लेख में शिल्पकारों की सैन्य नौकरियों को उनके पौरुष और संस्कृति के साथ जोड़कर देखा। उनका कहना था :

> ब्रिटिश सरकार ने हम लोगों के लिए जो संघर्ष चलाया है, मैं उसका बिना शर्त समर्थन करता हूँ।... आपको यह सुनकर ख़ुशी होगी के अकेले अल्मोड़ा ज़िले में मुझे 10000 शिल्पकारों को सेना में भर्ती कराने में सफलता मिली है। ये शिल्पकार कई बटालियन, लेबर यूनिट आदि में तकनीशियनों के रूप में काम कर रहे हैं। इन प्रांतों के पिछड़े वर्गों ने इस कटु सच्चाई को पहचान लिया है कि ब्रिटिश शासन से पहले की कई सदियों में वे भयंकर उपेक्षा और ग़रीबी के शिकार रहे। सामाजिक व्यवस्था और राजनैतिक सत्ता ने उन्हें अपने पौरुष से वंचित करने की साज़िश रची हुई थी। यदि ब्रिटिश सरकार एक दयालु भगवान के रूप में हमारे उद्धार के लिए सामने नहीं आती, तो शिल्पकारों की उन्नति और सुसंस्कृत समाज में हिस्सेदारी के रास्ते नहीं खुलते।[66]

तमता ने चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु के साथ अपने एक ओजस्वी भाषण में शिल्पकार सिपाहियों

[65] एल/पीजे/10/14, ओआईओसी.

[66] एल/पीजे/10/14, ओआईओसी.

हरी प्रसाद तमता

कुमाऊँ शिल्पकार सभा और आदि हिंदू आंदोलन के एक और प्रमुख नेता हरी प्रसाद तमता ने ब्रिटिश सेना में दलितों की सक्रिय भूमिका पर ख़ासा ज़ोर दिया। तमता ने अतीत में कुमाऊँ के शिल्पकारों की वीरतापूर्ण भूमिका की चर्चा करते हुए दलितों की क्षत्रिय नौकरी की परम्परा का उल्लेख किया।

को हथियारबंद किसानी एकता का सीधा-सच्चा प्रतीक बताया। उनके अनुसार शिल्पकार सिपाही सीधे, सरल और सहज होते थे, और कई ऐसे काम करने के लिए तैयार रहते थे जिन्हें सवर्ण सिपाही छूते भी नहीं थे। सवर्णों के आराम-भरे जीवन के विपरीत शिल्पकार सिपाही निश्छलता और सैन्य मर्दानगी के मॉडल थे। उन्होंने कहा :

> हम अमर आत्मा हैं और हमारा शरीर हमारा आभूषण है।... जैसे हम पुराने कपड़ों की जगह नये कपड़े पहनने में ख़ुशी महसूस करते हैं, उसी तरह हममें से वे जो वीर और साहसी हैं, अपने कर्त्तव्य निर्वाह में पुराने शरीर का बलिदान करने के बाद नये शरीर में प्रवेश करने में आनंदित होते हैं।... एक डरपोक मृत्यु से भयभीत होता है, पर एक मज़बूत आदमी मृत्यु को नियंत्रित करता है। वो निडर होकर युद्ध भूमि में प्रवेश करता है। यह पृथ्वी ऐसे ही वीरों के आनंद के लिए है।[67]

इस दौर में दलित पुरुषों का सेना के लिए गहरा लगाव बार-बार सामने आया। उत्तर प्रदेश आदि हिंदू सभा ने अपने कई सम्मेलनों में पिछड़े वर्गों को सेना और पुलिस में भर्ती करने के समर्थन में प्रस्ताव पारित किये। सरकार से लगातार यह अनुरोध किया गया कि वह कुमाऊँ शाखा की तरह सेना और पुलिस बल में अनुसूचित जातियों की रेजिमेंट का गठन करे।[68] जनवरी 1942 में इलाहाबाद में आदि हिंदू आंदोलन के एक सम्मलेन में भाषण देते हुए नन्दलाल जायसवार वियोगी ने कहा कि 1857 के दौरान दलितों का युद्ध कौशल सशक्त रूप से स्थापित हो गया।[69] दलितों ने कृतज्ञता और अनुग्रह की अपनी एक भाषा विकसित की, जिसमें सेना में सरकार की निष्ठापूर्वक सेवा के लिए अंग्रेज़ों के साथ एक ख़ास जुड़ाव दिखाने की कोशिश की गयी। उत्तर प्रदेश के कुछ चमारों को सेना में सेवा के लिए बतौर पुरस्कार (250 रुपए के जुर्माने का भुगतान करके) ज़मीन आवंटित की गयी।[70] शेड्यूल्ड कास्ट्स फ़ेडरेशन ने अपनी उत्तर प्रदेश शाखा समेत यह चिंता व्यक्त की कि शांति के दौर में सेना के पुनर्गठन में उनकी संख्या कम हो रही है, जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्होंने यह माँग की कि सेना में अनुसूचित जाति की वर्तमान संख्या न केवल बरक़रार रखनी चाहिए बल्कि उसका विस्तार होना चाहिए, जिससे वे सेना के शीर्ष पदों पर पहुँच सकें।[71] ब्रिटिश सेना में भर्ती

---

[67] 'शिल्पकाल सोल्जर्स', *पायनियर,* 1 अगस्त, 1942.

[68] एल/पीजे/10/14, ओआईओसी; एल/पीजे/8/685, ओआईओसी; 'डिप्रेस्ड क्लासेज अर्ज्ड टू ऐनलिस्ट', 18 जनवरी 1942; *पायनियर,* लखनऊ, 25 फरवरी 1942; *समता,* 25 फरवरी 1942; हिंदी में पोस्टर, 'संयुक्त प्रांत की आदि हिंदू सभा के कुछ प्रमुख पदाधिकारी', एल/पीजे/10/14, ओआईओसी में उपलब्ध.

[69] *रिपोर्ट ऑफ़ दि आदि हिंदू डीसी कुम्भ मेला कान्फ्रेंस,* इलाहाबाद, 1942 : 3-4.

[70] 105-105/जनवरी 1860, फ़ॉरेन कंस्लटेशन, फ़ॉरेन डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

[71] एल/पीजे/8/685, ओआईओसी.

दलितों के लिए एक ऐसा सशक्त केंद्रीय तर्क था जिसके इर्द-गिर्द वो अपनी राजनैतिक कुशलता, सामाजिक नागरिकता और पौरुष के पक्ष में विचार रख सकते थे। दलित पुरुषों की मर्दानगी और पौरुषेय ताक़त और क्षमता के लिए पुलिस या सेना की पोशाक, मेडल या सेना के प्रमाण-पत्र एक महत्त्वपूर्ण मानक बन गये थे।

उत्तर प्रदेश की पासी और भंगी जाति ने भी अपनी एक पूर्व औपनिवेशिक, ग़ैर-आर्य, लड़ाकू जाति की वंश परम्परा खोजने और गढ़ने का प्रयास किया। अब यह वंशावली एक नये मक़सद ब्रिटिश-सेना में भर्ती— से जुड़ गयी। पासियों का लगातार यह कहना था कि वे सबसे मज़बूत और पराक्रमी रहे हैं। उनकी एक पुस्तक में कहा गया :

> यह (पासी) जाति भारत की प्राचीन उपजातियों में से है, क्योंकि लोगों का अनुमान है कि राजपूताने में एक जाति पहरी के नाम से प्रसिद्ध है जिसका काम पहरा देना अर्थात रक्षा व रखवाली करना है। संयुक्त प्रांत में भी उनका मुख्य काम पहरा देना है।... वास्तव में यह वर्ग अर्वाचीन में भी वीर, तथा साहस से परिपूर्ण पाया जाता है।[72]

यह भी कहा गया कि विभिन्न राजाओं की सेनाओं ने पासियों को पीढ़ियों से सैन्य सेवा, और लोगों ने चौकीदार के रूप में अपने संरक्षण के लिए स्वीकार किया है। वे तलवार और युद्ध के औज़ारों की पूजा करते थे, वे पराजित होने के बजाय मरना पसंद करते थे और इन सब कारणों से सर्वोत्तम योद्धा रहे थे। उनके ऊपर जिन अपराधों के आरोप थे, उन्हें भी कई बार सर के बल खड़ा कर दिया गया। तर्क था कि पासी समुदाय के कुछ लोग अन्य किसी उपयुक्त अवसर के अभाव में अपना साहस और वीरत्व प्रदर्शित करने के लिए अपराध करने पर मजबूर हुए।[73] इसलिए उनकी क्षमताओं का सकारात्मक इस्तेमाल करने और उन्हें निम्न तथा अपराधी गतिविधियों से बचाने के लिए भी उनको सेना में भर्ती करना ज़रूरी था।[74] एक शिक्षित भंगी ने एक तोप की ओर इशारा करते हुए उसे भंगियों वाली तोप बताकर भंगियों का सैन्य इतिहास दर्ज किया। यह कहा गया कि 1762 में एक हरीसिंह भंगी ने ख़्वाजा उबैद पर हमला किया और हथियारों के ज़ख़ीरे पर क़ब्ज़ा कर लिया। एक तोप पर भी क़ब्ज़ा जमाया गया और इसीलिए उसका नाम भंगियों वाली तोप पड़ गया। बाद में यह तोप गूजर सिंह और लोहना सिंह भंगी को दे दी गयी।[75] एक अन्य जगह पर एक दलित लेखक ने सेना में सेवा करने के गौरव पर ज़ोर देते हुए कहा कि इससे दलित अपने लिए एक अलग तरह की देह, वेश-भूषा और कपड़े इख़्तियार कर सकते हैं। उत्तर प्रदेश में दलित प्रचारकों की पहली पीढ़ी सेना में नौकरी से काफ़ी प्रभावित थी और अपनी सैन्य सेवा को पौरुष, सामाजिक गतिशीलता, बेहतर रोज़गार और सम्मान के साथ जोड़ती थी। यहाँ दलित दूसरी अन्य जातियों के साथ सामाजिक गतिशीलता के साझे सहयोगी थे, पर उनके तर्क कुछ अलग और अपने थे।

शोधकर्ताओं ने बताया है कि उत्तर प्रदेश की कई जाति सभाओं और शहरी शूद्र ग़रीबों ने अपनी असुरक्षा से उबरने, और साथ ही अपनी आवाज़ बुलंद करने के लिए हिंदू पौरुष और क्षत्रियता का दावा करना शुरू किया।[76] बीसवीं सदी की शुरुआत में शिक्षित दलितों के एक तबक़े ने भी अपनी जाति वंशावलियां लिखकर शौर्य परम्परा का दावा किया। इन वंशावलियाँ में अपने सम्मान

---

[72] चौधरी रिसालसिंह (1928), *पासी पंचायत प्रणाली की हिंदी पुस्तक*, प्रथम भाग, प्रयाग : 1–2.

[73] वही : 2–3.

[74] 'पासियों में जागृति', *अभ्युदय*, 25 दिसंबर 1926 : 8.

[75] 'भंगियों वाली तोप', *माधुरी*, नवंबर 1923 : 419.

[76] नंदिनी गुप्तू (2001) : 185–243.

चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु

लखनऊ में सबसे पहला दलित प्रेस स्थापित करनेवाले चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने दलितों के ख़ुद के पेशे करने के तौर-तरीक़े को चुनौती देते हुए कहा कि दलित बुद्धिजीवियों को अपनी वेश-भूषा पर ख़ासा ध्यान देना चाहिए।

के इज़ाफ़े का आग्रह तो था ही, साथ-ही-साथ उच्च जातियों के विचारों का खंडन भी था। ऐसे दावे अलग-अलग प्रकार के थे, फिर भी इनमें कुछ सामान्य तत्त्व थे। कुछ पिछड़ी जातियों में आमतौर पर आक्रामक हिंदूवाद का आग्रह था, तो अस्पृश्यों ने भक्ति परम्परा को जीवित किया। इसी समय दलित जाति वंशावलियों ने इतिहास के क्षेत्र में क़दम बढ़ाया। *चंवर पुराण, क्षत्रिय शिल्पकार दर्पण, निषाद वंशावली, कलवार संहिता, पासी समाज, धरूका क्षत्रिय वंशावली, यादव जीवन* और *यदुवंश का इतिहास* जैसी वंशावलियाँ लिखी गयीं, जो अपने इतिहास को मुख़्तलिफ़ अंदाज़ में देखती थीं।[77] इनका मुख्य मुद्दा आर्थिक न्याय उतना नहीं था जितना कि दलितों की उत्पत्ति के ब्राह्मणवादी सिद्धांतों को चुनौती देकर अपने लिए सम्मान की जगह बनाना।[78] इन वंशावलियों के लेखकों ने हिंदू पौराणिकता और परम्परा से कई चीज़ें समाहित कीं। कुछ ने अपना एक शुद्ध इतिहास स्थापित करने के लिए या तो क्षत्रिय होने का दावा किया या अपने को सीधे कृष्ण से जोड़ा। *चंवर पुराण* के लेखक रघुवंशी ने दावा किया :

> चंवर पुराण से पूरे तौर से सिद्ध होता है कि यह [चमार] शब्द चंवर था जो सूर्यवंश के द्विज कुल में सृष्टि के आदि में एक बड़ा प्रभावशाली वंश हुआ है।... इस महावंश को लोग आज कल चमार नाम से पुकारते हैं परंतु वास्तव में यह सूर्य कुल का चंवरवंश ही है।... इस सम्पूर्ण वंश को चंवरवंश कहना उचित है। चमार कहना पाप है।[79]

उनका कहना था कि हम मानव जीवन की शुरुआत के पहले पुरोधा थे। दलित प्रचारक यों तो जाति वंशावली लिखने के लिए परम्परागत स्रोतों पर निर्भर थे, फिर भी उन्होंने ऐसे इतिहास को चुनौती दी जो उन्हें कमतर क़रार देता था।

इसके साथ ही, ख़ासकर आदि हिंदू आंदोलन के विकास के बाद, कई दलित जातियों ने अपने आपको भारत का मूल निवासी मानना शुरू किया, जिन्हें उच्च जाति के हिंदुओं ने ऐतिहासिक तौर पर छल और कपट के ज़रिये अधीन और पुंसत्वहीन बना रखा था।[80] अवध में पासियों ने दावा किया कि वे अपने क्षेत्र के राजा थे और उनकी राजशाही खेरी, हरदोई और उन्नाव जिले के संडीला, धरुहरा, मितौली और रामकोट में क़ायम थी। ख़ासकर रामकोट को उनका

---

[77] यू.बी.एस. रघुवंशी (1916), *चंवर पुराण,* अलीगढ़; बंशीधर (1939), पूर्वोक्त; देवी प्रसाद साधू (1907), *निषाद वंशावली,* लखनऊ; प्रेमनाथ योगीश्वर (1912), *कलवार संहिता,* इलाहाबाद; ज्वालाप्रसाद मिश्र (1911), *धरूका क्षत्रिय वंशावली,* मुरादाबाद; सुंदरलाल सागर (1929), *यादव जीवन,* आगरा; रामनारायण यादवेंदु (1942), *यदुवंश का इतिहास,* आगरा.

[78] बंशीधर (1939) : 65-7.

[79] यू.बी. एस. रघुवंशी (1916) : 1-2.

[80] चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु 1965 [1937], *भारत के आदिनिवासियों की सभ्यता,* लखनऊ.

एक प्रमुख गढ़ कहा गया।[81] दलित वंशावलियों में यह तर्क दिया गया कि आर्य और ब्राह्मणों की नस्ली विजय के दलित शिकार रहे हैं, जिन्होंने अपनी जीत के साथ हिन्दूवाद और जाति व्यवस्था की शुरुआत की। इन वंशावलियों में आर्य-ब्राह्मण के ख़िलाफ़ वीरतापूर्ण लड़ाई लड़ने में पिछड़ों की महान भूमिका का ज़िक्र किया गया, हालाँकि धूर्तता और बदमाशी से आख़िरकार वे पराजित हो गये। दलितों को उनके विरोध की सज़ा देने के लिए उन्हें अस्पृश्य और समाज से बहिष्कृत करके ग़रीबी और मृत पशुओं के भोजन पर आश्रित बना दिया गया।[82] यों तो दलितों का पूर्व-औपनिवेशिक या आर्य स्वर्ण युग के समय का कोई महिमागान नहीं था, पर उन्होंने अतीत का एक अपना वर्णन विकसित किया। यह अतीत आर्य हमले से आये ब्राह्मणवादी हिंदूवाद से पहले अस्तित्व में था, जिसमें हर प्रकार की समानता थी। ये जाति वंशावलियाँ दलित प्रिंट पत्रकारिता के साथ एक अलग सार्वजनिक क्षेत्र के विकास से भी जुड़ी थीं, जिनमें एक वैकल्पिक पौरुष का विमर्श नज़र आता था। ऐसे कई प्रकाशनों में एक नयी दलित पहचान गढ़ने के क्रम में जाति की अक्षमताओं पर भी ध्यान दिया गया। इस प्रकार उच्च जाति द्वारा अस्पृश्यता की गढ़ी हुई अवधारणाओं और व्यवहारों को एक दलित विचार प्रक्रिया द्वारा चुनौती दी जा रही थी, जिसके तहत उनके वास्तविक अतीत में एक प्रागैतिहासिक भारतीय समुदाय के रूप में एक सच्चा दलित-पौरुष वास करता था। यहाँ कलियुग का उल्लेख महत्त्वपूर्ण था क्योंकि औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में दलितों ने इसके द्वारा अपनी मर्दानगी पर ज़ोर दिया। कई उच्च जातियाँ कलियुग को विनाश का प्रतीक मानती थीं, पर दलित लेखकों के कई प्रकाशनों में कलियुग को अपनी खोयी हुई हैसियत की वापसी का समय कहा गया। *चंवर पुराण* में दावा किया गया कि कलियुग में उनके कुल को फिर अवसर होगा कि वह फिर अपने पूर्वजों के तेज से प्रेरणा लेकर जाति से उच्च बने।[83]

आधुनिक सार्वजनिक-राजनीतिक क्षेत्र पौरुष की स्वाभाविक जन्मभूमि रहे हैं। दलितों की पौरुषेय भरी पहचान भी राजनीति से नाभि-नाल जुड़ी थी। शोधकर्ताओं का दावा है कि महाराष्ट्र से अलग, औपनिवेशिक उत्तर प्रदेश में राजनीति शोषित वर्गों की गतिविधियों का सक्रिय कार्यस्थल नहीं थी। यह आंशिक रूप से सही हो सकता है, यदि हम केवल हरिजनों के बीच गाँधीवादी कार्यक्रमों पर नज़र डालें। पर हम यदि 1920 और 30 के दशक में प्रभावशाली आदि हिंदू आंदोलन की ओर देखें तो पाते हैं कि दलितों ने जाति शोषण, पौरुष दमन और राजनैतिक अधिकारों के मुद्दों को एक साथ जोड़कर अपनी पुरुष पहचान को एक नयी राजनीतिक अभिव्यक्ति दी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में, जहाँ दलितों की स्थिति अपेक्षया बेहतर थी, दलित पुरुषों के राजनीतिक उभार के कई उदाहरण मिलते हैं। यहाँ ऐतिहासिक तौर पर चमारों के पास ज़्यादा बड़ी जोत थी और बेगार प्रथा भी कम थी। बाद के औपनिवेशिक दौर में मेरठ, मुज़फ़्फ़नगर और आगरा जैसे क्षेत्रों में कई दलित परिवार अपनी कमज़ोरी और बेबसी की स्थितियों से बाहर निकाल चुके थे और यह उनकी जीवन-शैली, खान-पान, रहन-सहन व पहनावे-ओढ़ावे से भी झलकता था।[84] इन अवसरों का फ़ायदा उठाते हुए उन्होंने लगातार माँग-पत्र देकर सम्पत्ति के बजाय समानता के आधार पर वोट देने के अधिकार, समान रोज़गार, सरकारी महक़मों में प्रतिनिधित्व जैसे मुद्दे उठाये। आदि हिंदू आंदोलन का कहना था कि दलित एक उभरते हुए राष्ट्र में पूर्ण सदस्यता के हक़दार हैं। उन्होंने 1931 में लखनऊ में अपने एक

[81] अवध गजेटियर, II : 207.

[82] *रिपोर्ट ऑफ़ द स्पेशल सेशन ऑफ़ आल इंडिया आदि-हिंदू (डिप्रेस्ड क्लासेज़) कान्फ्रेंस,* लखनऊ, 1931 : 3.

[83] यू. बी. एस. रघुवंशी, (1916) : 47.

[84] मोहिंदर सिंह (1947), *द डिप्रेस्ड क्लासेज़ : देयर इकनॉमिक ऐंड सोशल कंडीशंस,* हिंदी किताब, बॉम्बे : 47, 109-24.

सम्मलेन में पहला प्रस्ताव यह पारित किया : समान नागरिकता का अधिकार, समान अधिकारों की मुकम्मल बहाली और विधान सभा और सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व।[85] यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस समय उनके सभी नेता पुरुष थे। उत्तर प्रदेश आदि हिंदू डिप्रेस्ड क्लासेज़ एसोसिएशन और बाद में उत्तर प्रदेश शेड्यूल कास्ट फ़ेडरेशन ने इस प्रकार के कई प्रस्ताव पारित किये जिनमें नौकरशाही में ज़्यादा पदों और राजनैतिक सत्ता में बेहतर भागीदारी की माँग की गयी। उन्होंने अनुसूचित जातियों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र के ज़रिये 30 प्रतिशत आरक्षण, या कम-से-कम सीटों में ज़्यादा समान बँटवारे की माँग की।[86] मैं इस प्रकार की माँगों को दलित पौरुष के साथ जोड़ती हूँ। यह प्रतिरोध और नागरिक अधिकारों का पुरुष-केंद्रित इज़हार था। दलितों के कुंठित पौरुष ने इन तरीक़ों से राजनैतिक जीवन में अपना वजूद दिखाने की कोशिश की, जिसमें दलित नागरिकों और नागरिकता की परिकल्पना एक पुरुष परिप्रेक्ष्य में की गयी। नये प्रकार के जाति द्वंद्व सामने आये, जिनमें लिंग के आधुनिकीकरण का मतलब मुख्यत: जाति पौरुष की नयी संरचना करना था। जाति के बरक्स दलित पुरुषों का राजनैतिक उभार औपनिवेशिक आधुनिकता और उभरते राजनैतिक राष्ट्रवाद के अंत:संबंधों से शक्ल ले रहा था।[87] कई अर्थों में एक पुरुष वर्चस्व वाले दलित सार्वजनिक-राजनैतिक उभार के लिए माक़ूल मंच तैयार हो गया था।

अब मैं संक्षेप में उन कुछ और हलक़ों की ओर इशारा करूँगी, जिनमें दलितों ने अपना पौरुष उभारने की कोशिश की। कुछ दलितों ने सार्वजनिक क्षेत्रों में मर्दानगी के आक्रामक प्रदर्शन किये। जैसे बीसवीं सदी के शुरू में उत्तर प्रदेश में व्याप्त हिंदू-मुस्लिम दंगों में कुछ दलितों की भागीदारी। इलाहाबाद के कुछ दलितों ने रामलीला कमिटी में हिस्सेदारी की बात की। दलितों का तर्क था कि वे लाठी भाँजने वाले पुरुषों के दल को खड़ा कर सकते हैं, जिससे मुस्लिम ख़ौफ़ खायें।[88] शारीरिक शक्ति को वीरता और हीरोगिरी से जोड़कर, भले वे दंगाई गतिविधियाँ ही क्यों न हों, दलितों को अपनी शारीरिक शक्ति और ताक़त में एक गौरव और विश्वास का भान हुआ, वैसे जिसे उच्च वर्ग के लोग कोई भाव नहीं देते थे। साम्प्रदायिक दंगों में उनकी भागीदारी के विरोधाभासी मंतव्य थे। ताक़त का प्रदर्शन और सड़कछाप-चतुराई उनके पौरुष पर मुहर लगाती थी। उनका शरीर एक हथियार के रूप में पेश किया जा सकता था। इस छवि का इस्तेमाल करके वो निम्न रोज़गार के अवसरों के लिए मुसलमानों के साथ प्रतियोगिता कर सकते थे।[89] इसी प्रकार चमड़े के काम को लेकर एक चमार ने दावा किया कि चर्मशोधन में मर्दानगी निहित है। उनका कहना था कि चमार यह काम करने के लिए अभिशप्त नहीं हैं, बल्कि वे अपनी शारीरिक ताक़त और कठोर श्रम के कारण इस काम के क़ाबिल हैं।[90] पासियों का दावा था कि वे सर्वश्रेष्ठ चौकीदार हैं क्योंकि उनके पास शारीरिक ताक़त और अपराध नियंत्रित करने का कौशल है।

लखनऊ में सबसे पहला दलित प्रेस स्थापित करनेवाले चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु ने दलितों के ख़ुद के पेशे करने के तौर-तरीक़े को चुनौती देते हुए कहा कि दलित बुद्धिजीवियों को अपनी वेश-भूषा पर ख़ासा ध्यान देना चाहिए और दुनिया के सामने अपनी आधुनिक और सक्षम तस्वीर प्रस्तुत करनी चाहिए। पोशाकी पहचान, वेश-भूषा और पुरुष हैसियत ऊँचा करने का विमर्श ईसाई धर्म ग्रहण करने

[85] *रिपोर्ट ऑफ़ द स्पेशल सेशन ऑफ़ ऑल इंडिया आदि-हिंदू (डिप्रेस्ड क्लासेज) कांफ्रेंस,* (1931) : 2.

[86] एल/पीजे/8/685, ओआईओसी.

[87] 'स्वाधीनता दिवस', *अछूत* (अगस्त, 1947): 2.

[88] पीएआई, 27 अक्टूबर 1953 : 532.

[89] नंदिनी गुप्ता, (2001).

[90] चाँद करण शारदा (1925), *दलितोद्धार,* अजमेर : 14.

के साथ भी जुड़ा था। मिशनरी साहित्य में दावा किया गया कि धर्मांतरण से दलितों को पुरुष का सही दर्जा और सम्मान मिला है। गॉडफ्रे फ़िलिप्स ने कहा :

> इन आंदोलनों ने अछूतों को आदमी बनाया है और दुनिया में उन्हें पुरुष का दर्जा दिया है, ऐसा दर्जा जो उन्हें कभी हासिल नहीं था।[91]

विडम्बना देखिए कि धर्मांतरण की आलोचना करने वाले सुधारकों ने भी स्वीकार किया कि इससे दलितों को एक बेहतर पुरुष का दर्जा मिला है।[92] *चाँद* पत्रिका और आर्य समाज के कई प्रकाशनों में दो अछूतों को एक साथ चित्रित किया गया : एक मूल और दूसरा धर्मांतरित। दलित पुरुष में धर्मांतरण से आये बदलाव; उनका पहनावा, चाल-ढाल, काया और हैसियत, सब देखने लायक़ थी। एक कार्टून में धर्मांतरित दलित को सूट-बूट और साहब की चाल-ढाल में चित्रित किया गया। ग़ैर-धर्मांतरित दलित उसके पीछे नंगे पैर, सर पर बोझा लिए चल रहा था। कार्टून का वर्णन कहता है :

> *चलता है आगे बन साहब, ईसाई जो हुआ अछूत!*
> *जो हिंदू, वह मुर्गी ढोता पीछे, यह कैसी करतूत?*[93]

एक अन्य कार्टून में धर्मांतरित दलित पुरुष अपना धन दिखा रहा है और धर्मांतरण नहीं करने वाले दलित को मज़दूरी दे रहा है :

> एक ठाट से गाली देकर दान कर रहा मज़दूरी,
> एक जाति अछूत ईसाई में रहती कितनी दूरी?[94]

कई अन्य कार्टूनों में ईसाई धर्मांतरित दलित पुरुषों को खेल-कूद का आनंद लेते हुए, राज करते हुए, अपना जूता पॉलिश कराते हुए और अन्य सुखद स्थितियों में दिखाया गया :

> *एक रंग है, एक रक्त है, एक जाति थे फिर भी आज,*
> *चपरासी है एक दूसरा बन साहब करता है राज!*[95]
> *जो ईसाई बन जाता है, उस अछूत का देखो रंग!*
> *जो हिंदू है उसके जूता सीने का भी देखो ढंग!!*[96]

चाहे वास्तविकता इससे अलग रही हो, लेकिन ईसाई बनने के बाद दलितों की हैसियत में इज़ाफ़े का *प्रदर्शन* और *चित्रण* काफ़ी मार्के का था। मेरठ के आस-पास के कुछ भंगी और चमारों ने दावा किया कि ईसाई बनने से उन्हें शिक्षा, सम्मान और हैसियत-भरा नया जीवन हासिल हुआ है। कई ईसाई दलितों ने बेगार करने से इनकार कर दिया। हिंदू सुधारकों और मिशनरियों ने अलग-अलग प्रकार के विरोधी तर्क देते हुए भी दलितों के ईसाई धर्मांतरण को सम्मान और पौरुष पाने का एक रास्ता बताया। दलित अपने को औपनिवेशिक आधुनिकता की भाषा में व्यक्त कर रहे थे और ईसाई धर्म में अपने लिए सामाजिक शोषण से कुछ हद तक मुक्ति देख रहे थे।

दलित स्त्री के शरीर और यौनिकता पर नियंत्रण भी दलितों के पौरुष स्थापित करने के एक बिंदु के रूप में सामने आया। उच्च जातियों में इसकी एक लम्बी परम्परा रही है। लेकिन इस दौर में

---

[91] गॉडफ्रे ई. फ़िलिप्स (1912), *द आउटकास्ट्स होप ऑर वर्क अमंग द डिप्रेस्ड क्लासेज़ इन इंडिया,* लंदन : 83.

[92] 'हिंदुओं का भयंकर हवास', *चाँद* (जनवरी, 1929): 451-60.

[93] *चाँद* (मई, 1929) : 85; व्यंग चित्रावली, इलाहाबाद, 1930.

[94] *चाँद* (मई, 1929): 85.

[95] वही : 133.

[96] वही : 166.

दलित जातियों ने भी अलग-अलग कारणों से दलित स्त्री के शरीर पर अंकुश लगाने का प्रयास किया। उदाहारण के लिए, मुरादाबाद के चमारों ने घोषणा की कि वे अपनी स्त्रियों को आवाजाही की कम आज़ादी देंगे। देहरादून और सहारनपुर के चमारों ने कहा कि उनकी स्त्रियों को खाना पकाते समय अंगिया और धोती ठीक तरह पहननी चाहिए और घास बेचने के लिए बाज़ार नहीं जाना चाहिए। मेरठ में जातीय चमार सभा ने, जिसमें 4000 चमारों ने हिस्सा लिया, प्रस्ताव पारित किया कि स्त्रियों को परदा करना चाहिए। ख़ासकर शहरी धनी चमारों ने अपनी पत्नियों को अलग-थलग रखने और समुदाय में उनकी एक नयी भूमिका पर ज़ोर दिया। मथुरा में भंगियों की एक सभा ने यह फ़ैसला किया कि उनकी स्त्रियों को रोज़ बाज़ार नहीं जाना चाहिए। बुलंदशहर के भंगियों ने अपनी पंचायत में प्रस्ताव पारित करके अपनी स्त्रियों के मेला जाने पर रोक लगा दी। लखनऊ के खटीकों ने प्रस्ताव पारित किया कि उनकी स्त्रियाँ गली-मुहल्लों में फल नहीं बेचेंगी और केवल दुकानों में बिक्री करेंगी।[97] कुछ विचारकों के अनुसार इस प्रकार के क़दम संस्कृतिकरण की ओर संकेत करते हैं और ये अग्रगामी गतिशीलता का दावा करने के लिए किये गये। ऐसा भी कहा जा सकता है कि यहाँ दलित पुरुष प्रभुत्वशाली उच्च वर्ग के पौरुष के तौर-तरीक़ों से प्रभावित हो रहे थे। यहाँ दलित-पौरुष का आग्रह नवाचारी नहीं, बल्कि नक़लची था। इन सबके साथ ही मेरा मानना है कि इस प्रकार के क़दम संस्कृतिकरण, पितृसत्तात्मक नियंत्रण या दलित-पौरुष की पहचान के द्योतक तो थे ही, लेकिन साथ ही इनमें कहीं-कहीं दलित स्त्रियों को सम्मान दिलाने और सार्वजनिक क्षेत्र में उनके शरीर पर सवर्णों द्वारा हो रहे यौन शोषण से मुक्ति की कोशिशें भी निहित थीं। दलित स्त्री के शरीर पर नियंत्रण इन सभी का मिश्रण था। जाति की पहचान के राजनीतिकरण की प्रक्रिया में यौनिकता और लैंगिकता पर नियंत्रण एक महत्त्वपूर्ण खूँटी था। दलित सुधारकों का पौरुष अपने समुदाय के अंदर लिंग सुधार के उपायों और बाहरी जातियों के ख़िलाफ़ अपने समुदाय की इज़्ज़त की रक्षा के दोराहे पर निर्मित हो रहा था।

निष्कर्ष

वर्चस्वशाली संस्कृति ने दलितों की एक निश्चित, टकसाली प्रस्तुति के कई मानक बनाये। कई दलित जातियों के पुरुषों को निम्न, कमज़ोर, मूर्ख और मंद बुद्धि में चित्रित किया गया। इसके विपरीत और विरोधाभासी रूप में कई बार दलित पुरुषों को हिंसक, अपराधी, शराबी और कामलोलुप भी चित्रित किया गया। ये दोनों तस्वीरें एक ही सिक्के के पहलू थे। उच्च वर्गों द्वारा मर्दाना और ज़नाना की टकसाली छवियों को बार-बार दलितों की पहचान स्थापित करने के लिए इस्तेमाल किया गया।

पर दलित पुरुष कोई अकर्मक प्राणी नहीं थे। दलित पुरुषों ने ख़ुद भी कई प्रकार से अपनी मर्दानी छवि का सृजन और चित्रण करने का प्रयास किया। हाशिये पर धकेली दलित पुरुष की सामाजिक स्थिति में पौरुष एक ऐसा वैचारिक बिंदु बन गया जिससे जातीय दमन और पुरुष पराक्रम के बीच एक संतुलन बनाया जा सकता था। दलित पुरुषों ने सम्मान और सामाजिक न्याय के लिए भी लैंगिक दावे प्रस्तुत किये। एक पौरुषपूर्ण अतीत, सेना में भर्ती, राजनैतिक भागीदारी के दावे, वेश-भूषा और संस्कृति, प्रचार और प्रकाशन के ज़रिये दलितों ने आधुनिक शहरी सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी एक— बाज़ दफ़ा उथली ही सही— जगह बनाने की कोशिश की, उन्होंने औपनिवेशिक व्यवस्था से विकसित होनेवाले सीमित साधनों, जैसे रोज़गार, प्रिंट, शिक्षा, धर्मांतरण, आदि के ज़रिये भी दलित पौरुष का परोक्ष पराक्रम स्थापित करने का प्रयास किया। यद्यपि दलितों की समस्याएँ और संकट

---

[97] पीएआई, 1 अप्रैल 1922 : 642; पीएआई, 13 मई 1922 : 845; पीएआई 30 सितम्बर 1922 : 1466; पीएआई, 4 नवम्बर 1922 : 1577; पीएआई, 24 मार्च 1933 : 186; पीएआई 29 सितम्बर 1923 : 503

सचेतन रूप से पौरुष के ज़रिये परिभाषित या अभिव्यक्त नहीं हो रहे थे, फिर भी उनके विभिन्न प्रयासों, विमर्शों और गतिविधियों में दलित पुंसत्व और मर्दानगी को स्थापित करने की झलक मिलती है। दलितों ने अपनी बेबसी, अलगाव और सामाजिक नपुंसकता से उबरने के लिए पुंसत्व को एक मौक़ाई हथियार बनाया। इस प्रकार कई बार दलित पौरुष जीवन जीने की रणनीति, एक विरोध, एक शारीरिक विचार और बिम्ब था, जिससे बेहतर अधिकारों, सम्मान और रोज़गार के अवसरों को आगे बढ़ाया जा सकता था। कभी-कभी पौरुष के दावों में मानव अधिकार अभिव्यक्त हो रहे थे।

लेकिन पौरुष का मक़सद नियंत्रण क़ायम करना भी है। अपनी अलग पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष्य के बावजूद कई बार दलित पुरुष पौरुष के वर्चस्ववादी प्रभाव के नज़दीक दिखायी पड़े और उन्होंने भी एक बनी-बनायी लैंगिक शब्दावली और गतिविधि को ही पुष्ट किया। एक प्रकार से पौरुष की परिभाषा में भी उथल-पुथल हो रही थी— उत्पादन से उपभोग, शरीर के सम्मान से शरीर के पराक्रम, पुरुषता से पौरुष की ओर। दलितों ने अक्सर घरेलू क्षेत्र में पितृसत्तात्मक मूल्यों को अंगीकार किया, भले ही यहाँ नियंत्रण का तर्क दलित स्त्रियों को ज़्यादा सम्मान दिलाने के साथ जुड़ा था। दलितों ने कई बार साम्प्रदायिक दंगों में एक मुख्य किरदार की भूमिका अदा करके भी पौरुष की प्रभावी अवधारणा को ठोस किया। लेकिन साथ ही दलितों के परिप्रेक्ष्य और प्रभाव ने वर्चस्ववादी अवधारणाओं में दरार भी डाली, क्योंकि वे अपनी शर्तों पर नवीन और कारगर हस्तक्षेप भी कर रहे थे।

यह कहना पर्याप्त नहीं है कि औपनिवेशिक भारत में दलित-पौरुष की अभिव्यक्तियाँ विद्रोही थीं। इन अभिव्यक्तियों के स्थानों, बिम्बों और रूपों को अन्य समुदायों के पौरुष के दावों के संदर्भ और संबंध में देखा जाना चाहिए। दलित-पौरुष कोई स्थिर, ठोस अवधारणा नहीं थी बल्कि तात्कालिक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक ज़मीनी हक़ीक़त से भी मुख़ातिब हो रही थी। अंततः दलित-पौरुष का निर्माण न तो पूरी तरह रूढ़ और आबद्ध था, और न ही यह निर्दोष और बेदाग़ था, क्योंकि लैंगिक पहचान अपने आप में निश्चित और शाश्वत नहीं थी बल्कि कई अनिश्चितताओं और असमंजस से गुज़र रही थी।

संदर्भ

'अछूत', *चाँद,* अगस्त 1934.

'अछूतोद्धार का प्रयत्न', *चाँद,* जून 1926.

अनुपमा राव (2009), द *कास्ट क्वेश्चन : दलित्स ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

'अस्पृश्यों में जागृति', *चाँद,* फरवरी 1930.

आनंद ए. येंग (संपा.) (1985), *क्राइम ऐंड क्रिमिनैलिटी इन ब्रिटिश इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ एरिज़ोना प्रेस, एरिज़ोना.

आरडीथे बॉशम (1980), *अनटचेबल सोल्जर्स : द महार्स ऐंड द माज़बिस,* आम्बेडकर साहित्य प्रकाशन, बैंगलोर.

आशिस नंदी (1983), *द इंटिमेट ऐनेमी : लॉस ऐंड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अंडर कोलोनियलिज़्म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

आर.डब्ल्यू. कॉनेल (1995), *मैसक़ुलिनिटीज़,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.

ई.आर. नीव (1911), *फ़र्रुख़ाबाद : अ गज़ेटियर बीइंग खण्ड IX ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद.

ई. व्हाइटकॉम्ब (1972), *एग्रेरियन कंडीशन इन नॉर्दर्न इंडिया, खण्ड I : यूपी अंडर ब्रिटिश रूल, 1860–1900,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.

ओवेन एम. लिंच (1969), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ अनटचेबिलिटी : सोशल मोबिलिटी ऐंड सोशल चेंज इन अ सिटी ऑफ़ इंडिया,* कोलाम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— (1972), 'डॉ. बी.आर. आम्बेडकर : मिथ ऐंड करिश्मा', जे. माइकल महार (सम्पा.), द *अनटचेबल्स इन कंटेम्परारी इंडिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ एरिज़ोना प्रेस, एरिज़ोना.

इशिता-बनर्जी दुबे (सम्पा.) (2008), *क़ास्ट इन हिस्ट्री,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

ऐनुअल रिपोर्ट ऑफ़ द प्रेसाइडिंग एल्डर, नॉर्थ वेस्ट इंडिया कान्फ्रेंस, लखनऊ, 1895.

एच.आर. नेवील (1907), *बदायूँ : अ गज़ेटियर, बीइंग वोल्यूम XV ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट गजेटियरर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद.

— (1911), *पीलीभीत : अ गज़ेटियर, बीइंग वोल्यूम XVIII ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद.

— (1910), शाहजहाँपुर : *अ गज़ेटियर, बीइंग वोल्यूम XVII ऑफ़ द डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स ऑफ़ यूपी,* इलाहाबाद.

एफ/260/5780/ बोर्ड्स कलेक्शंस : 1808-09, ओरिएंटल ऐंड इंडियन ऑफ़िस कलेक्शन, ब्रिटिश लाइब्रेरी (आगे से ओआईओसी).

एल/एमआईएल/7/7236, ओआईओसी.

एल/एमआईएल/14/216, ओआईओसी; एल/एमआईएल/7/12141, ओआईओसी.

एल/पीजे/10/14, ओआईओसी.

एल/पीजे/10/14, ओआईओसी.

एल/पीजे/10/14, ओआईओसी.

एल/पीजे/10/14, ओआईओसी; एल/पीजे/8/685, ओआईओसी; 'डिप्रेस्ड क्लासेज़ अर्ज्ड टू ऐनलिस्ट', 18 जनवरी 1942.

एल/पीजे/8/685, ओआईओसी.

एल/पीजे/8/685, ओआईओसी.

एस.टी. होलिन्स (1914), द *क्रिमिनल ट्राइब्स ऑफ़ द यूनाइटेड प्रॉविंसेज़,* इलाहाबाद.

एस. डर्ने (2000), *मूवीज़, मैसक्युलेनिटी ऐंड मॉडर्निटी : ऐन एथ्नॉग्राफ़ी ऑफ़ मेंस फ़िल्म गोइंग इन इंडिया,* ग्रीनवुड प्रेस, वेस्टपोर्ट.

एस.सी. राजा (1939), 'हरिजन और सैनिक सेवा', *चाँद,* जुलाई.

ए.सी. क्लेटॅन (1911), *प्रीचर्स इन प्रिंट : ऐन आउटलाइन ऑफ़ द वर्क ऑफ़ द क्रिश्चियन लिटररी सोसायटी फ़ॉर इंडिया,* लंदन.

कृष्णानन्द शर्मा (1923), *हिंदुओं की उन्नति और अछूत,* बनारस.

गॉडफ्रे ई. फ़िलिप्स (1912), *दि आउटकास्ट्स होप ऑर वर्क अमंग द डिप्रेस्ड क्लासेज इन इंडिया,* लंदन.

गंगाप्रसाद उपाध्याय (1929) 'समाज सुधार', *सुधा,* जुलाई.

गोदीन शर्मा (1928), *कलियुग में सतयुग,* बाँदा.

गौरीशंकर सिंह चंदेल (1940), 'हिंदू भंगी' *चाँद,* जनवरी.

'गृह विज्ञान', *चाँद,* नवंबर 1927.

चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु (1968), *श्री श्री 108 स्वामी अछूतानन्द जी 'हरिहर',* लखनऊ.

— 1965 [1937], *भारत के आदिनिवासियों की सभ्यता,* लखनऊ.

चाँद करण शारदा (1925), *दलितोद्धार,* अजमेर.

चाँद, जनवरी 1929.

चाँद, मई 1929.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्शुअलिटी, ऑब्सिनिटी, कम्युनिटी : विमॅन, मुस्लिम्स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इंडिया*, परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

चिमनलाल वैश्य (1924), *नारायणी शिक्षा अर्थात गृहस्थाश्रम*, इलाहाबाद.

चौधरी रिसालसिंह (1928), *पासी पंचायत प्रणाली की हिन्दी पुस्तक, प्रथम भाग*, प्रयाग.

जाति-पाँति का वर्णन, नॉर्थ इंडियन क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी, इलाहाबाद, 1924.

जे.जे. लुकास, *हिस्ट्री ऑफ़ द नार्थ इंडियन क्रिश्चियन ट्रैक्ट ऐंड बुक सोसायटी (1848-1934)*, मिशन प्रेस, इलाहाबाद, ऐन. डी. (प्रकाशन वर्ष उपलब्ध नहीं है).

जॉन सी.बी. वेबस्टर (1994), *द दलित क्रिश्चियंस : अ हिस्ट्री*, आईएसपीसीके, दिल्ली.

जे.टी.एफ. जॉर्डंस (1981), *स्वामी श्रद्धानंद : हिज़ लाइफ़ ऐंड कॉलेज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

जोसेफ़ एस. ऑल्टर (1993), *द रेस्लर्स बॉडी : आइडेंटिटी ऐंड आइडियोलॉजी इन नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

ज्योतिस्वरूप शर्मा (1923), *अछूत मीमांसा*, अलीगढ़.

ज्वालाप्रसाद मिश्र (1911), *धरूका क्षत्रिय वंशावली*, मुरादाबाद.

डब्ल्यू. क्रुक (1974) [1896], *द ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑफ़ द नार्थ वेस्टर्न इंडिया, वोल्यूम I* कॉस्मो पब्लिकेशंस, दिल्ली.

डिर्क कोल्फ (1990), *नौकर, राजपूत ऐंड सिपोय : दि एथ्नोहिस्ट्री ऑफ़ द मिलिट्री लेबर मार्केट इन हिंदुस्तान 1450-1950*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

तीर्थराम (1924), *स्त्रियों को चेतावनी*, इलाहाबाद.

थॉमस ब्लूम हैनसेन (2006), 'रिकुयरेटिंग मैसकुलैनिटी, हिंदू नेशनलिज़म, वायलेंस ऐंड द एक्सोरिज़म ऑफ़ द मुस्लिम 'अदर'', *क्रिटीक ऑफ़ एंथ्रोपॉलिजी*, खण्ड 16 (2).

'दलित समुदाय की आर्थिक समस्या', *चाँद*, जनवरी 1940.

द डिप्रेस्ड क्लासेज़ ऑफ़ इंडिया : ऐन इंक्वायरी इनटू देयर कंडीशन ऐंड सजेशंस फॉर देयर अपलिफ्ट, दिल्ली, 1977 [1912].

देवी प्रसाद साधू (1907), *निषाद वंशावली*, लखनऊ.

नंदिनी गुप्तू (2001), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ दि अरबन पुअर इन अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंडिया*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

नत्थूप्रसाद यादव (1938), 'ब्रिटिश शासन काल में यादवों की फ़ौजी उन्नति का इतिहास', *यादवेश*, खण्ड 1, अंक 2.

निकोलस बी. डर्क्स (1987), *द हॉलो क्राउन : एथ्नोहिस्ट्री ऑफ़ द इंडियन किंगडम*, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

'पासियों में जागृति', *अभ्युदय*, 25 दिसंबर 1926.

पायनियर, लखनऊ, 25 फरवरी 1942.

पीएआई, 27 अक्टूबर 1953.

पीएआई, 1 अप्रैल 1922.

पीएआई, 13 मई 1922.

पीएआई, 30 सितम्बर 1922.

पीएआई, 4 नवंबर 1922.

पीएआई, 24 मार्च 1933.

पीएआई, 29 सितम्बर 1923.

प्रेमनाथ योगीश्वर (1912), *कलवार संहिता,* इलाहाबाद.

फ़िलिप कांस्टेबल (2001), 'द मार्जिनलाइजेशन ऑफ़ दलित मार्शल रेस इन लेट एट्टींथ ऐंड अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी वेस्टर्न इंडिया', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 60, अंक 2.

बद्रीनारायण (1917), *भजन गौरक्षा गोपाल दर्शन,* हरदोई.

'बाल पत्नियों के आँसू', *चाँद,* मार्च 1927.

बिपिनबिहारी त्रिवेदी (1950), 'लोक कथा के नायक आल्हा ऊदल', *विशाल भारत,* मार्च.

बंशीधर (1939), *क्षत्रिय शिल्पकार दर्पण,* अलीगढ़.

भगवानदीन प्रसाद (1915), *भाईचारा,* इलाहाबाद.

भीखू पारिख (1989), *कोलोनियलिज़म, ट्रैडिशन ऐंड रिफ़ॉर्म : ऐन ऐनालिसिस ऑफ़ गाँधीज़ पॉलिटिकल डिस्कोर्स,* सेज, नयी दिल्ली.

'भंगियों वाली तोप', *माधुरी,* नवम्बर 1923.

मंगल सिंह जाटव (1997), *स्वर्गीय श्री श्री 108 स्वामी अछूतानन्द जी का जीवन परिचय,* ग्वालियर.

मंगतूराम लाटा (1922), *ब्राह्मण सुधार,* रामगढ़.

मुकुल कुमार (2004) 'रिलेशनशिप ऑफ़ कास्ट ऐंड क्राइम इन कोलोनियल इंडिया : अ डिस्कोर्स ऐनालिसिस', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 39, अंक 10

मोहिंदर सिंह (1947), *द डिप्रेस्ड क्लासेज : देयर इकोनॉमिक ऐंड सोशल कंडीशन्स,* हिंदी किताब, बॉम्बे.

मृणालिनी सिन्हा (1995), *कोलोनियल मैसकुलिनिटी : द 'मैनली' इंग्लिशमैन ऐंड दि 'एफ़िमिनेट' बंगाली इन द लेट नाइनटींथ सेंचुरी,* मैनचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनचेस्टर.

यू.बी.एस. रघुवंशी (1916), *चंवर पुराण,* अलीगढ़.

राजपाल सिंह 'राज' (2003), *स्वामी अछूतानन्द हरिहर,* दिल्ली;

राधिका चोपड़ा, कैरोलीन ओसेला और फ़िलिपो ओसेला (सम्पा.) (2004), *साउथ एशियन मैसकुलेनिटीज़ : कॉन्टेक्स्ट ऑफ़ चेंज साइट्स ऑफ़ कांटिन्युटी,* वूमेन अनलिमिटेड, नयी दिल्ली.

राधिका सिंघा (2007), 'फ़ाइंडिंग लेबर फ्रॉम इंडिया फॉर द वार इन इराक़ : द जेल पॉर्टर ऐंड लेबर कॉर्प्स, 1916–1920', *कॉम्पेरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी ऐंड हिस्ट्री,* खण्ड 49, अंक 2.

रामनारायण एस. रावत (2012), *रिकंसीडरिंग अनटचेबिलिटी : चमार्स ऐंड दलित हिस्ट्री इन नॉर्थ इंडिया,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

रामनारायण यादवेंदु (1942), *यदुवंश का इतिहास,* आगरा.

रिपोर्ट ऑफ़ द डिपार्टमेंट ऑफ़ इंडस्ट्रीज इन यूपी, 1935–36, इलाहाबाद, 1937.

रिपोर्ट ऑफ़ द स्पेशल सेशन ऑफ़ आल इंडिया आदि-हिंदू (डिप्रेस्ड क्लासेज) कान्फ्रेंस, लखनऊ, 1931.

रॉयल (व्हीटले) कमीशन ऑफ़ लेबर इन इंडिया, एविडेंस, वॉल्यूम III, लंदन, 1931.

रिपोर्ट ऑफ़ दि आदि हिंदू डीसी कुम्भ मेला कान्फ्रेंस, इलाहाबाद, 1942.

लज्जाराम (1928), 'समाज सुधार', *सुधा,* जनवरी.

वॉल्टर नियेल (1962), *इकनॉमिक चेंज इन रूरल इंडिया लैंड टेन्योर ऐंड रिफ़ॉर्म इन यूपी 1800–1955,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवेन.

व्यंग चित्रावली, इलाहाबाद, 1930.

विक्टर लौंगर (1981), *फ़ोरफ्रंट फ़ॉरेवर : द हिस्ट्री ऑफ़ द महार रेज़ीमेंट,* महार रेजीमेंट सेंटर, सागर.

समता, 25 फ़रवरी 1942.

'समाज सुधार' *सुधा,* अप्रैल 1929.

'समाज की चिंगारियाँ', *चाँद,* नवम्बर 1927.

शाहिद अमीन (1984), *शुगरकेन ऐंड शुगर इन गोरखपुर : ऐन इंक्वायरी इनटू पेज़ैंट प्रोडक्शन फॉर कैपिटलिस्ट इंटरप्राइज़ इन कोलोनियल इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

शिवनारायण मिश्रा (1922) *बहिष्कृत भारत,* कानपुर.

'शिल्पकाल सोल्जर्स', *पायनियर,* 1 अगस्त, 1942.

सेंसस ऑफ़ इंडिया, 1931, यूपी, खण्ड XVIII पार्ट I रिपोर्ट, इलाहाबाद, 1933.

स्टीफेन पी. कोहेन (1969), 'दि अनटचेबल सोल्जर : कास्ट, पॉलिटिक्स ऐंड इंडियन आर्मी', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 28, अंक 3 : 453–68.

सैंड्रिया बी. फ्रीटैग (1991), 'क्राइम इन द सोशल ऑर्डर ऑफ़ कोलोनियल नॉर्थ इंडिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज,* खण्ड 25, अंक 2 : 227–61.

(सीक्रेट) पुलिस एबस्ट्रैक्ट्स ऑफ़ इंटेलिजेंस ऑफ़ यूपी गवर्नमेंट, 1922–40 , 24 फ़रवरी 1940.

सूज़न बेली (1999), *कास्ट, सोसायटी ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया फ्रॉम एट्टींथ सेंचुरी टू द मॉडर्न एज,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

सुन्दरलाल सागर (1929), *यादव जीवन,* आगरा.

सी. ए. बेली (1983), *रूलर्स, टाउंसमेन ऐंड बाजार्स : नार्थ इंडियन सोसायटी इन दि एज ऑफ़ ब्रिटिश एक्सपैंशन, 1770–1870,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

संजय निगम (1990), 'डिसिप्लिंग ऐंड पोलिसिंग द ''क्रिमिनल्स बाइ बर्थ'' पार्ट I : द मेकिंग ऑफ़ कोलोनियल स्टीरियोटाइप– द क्रिमिनल ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया', *इंडियन इकनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 27, अंक 2.

'स्वाधीनता दिवस' *अछूत,* अगस्त 1947 : 2.

हिन्दी में पोस्टर, 'संयुक्त प्रांत की आदि हिन्दू सभा के कुछ प्रमुख पदाधिकारी', एल/पीजे/10/14, ओआईओसी में उपलब्ध.

'हिंदुओं का भयंकर हवास', *चाँद,* जनवरी 1929.

ज्ञानेंद्र पांडेय (2006), *रुटीन वायलेंस,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

42–48/नवम्बर 1916, जेल्स, ए, होम डिपार्टमेंट, नैशनल आर्काइव्स ऑफ़ इंडिया (ऐनएआई).

291–302/जून 1900, पब्लिक, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

42–48/नवंबर 1916, जेल्स, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई, 'रिक्रूटमेंट ऑफ़ कंविक्ट स्वीपर्स फॉर सर्विस इन मेसोपोटामिया'

5/मई 1916, पुलिस, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

6/7 जून 1913, पुलिस, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

42–48/नवंबर 1916, जेल्स, ए, होम डिपार्टमेंट, ऐनएआई.

105–105/जनवरी 1860, फ़ॉरेन कंसल्टेशन, फ़ॉरेन डिपार्टमेंट, ऐनएआई.